जो शिलाएँ तोड़ते हैं
केदार नाथ अग्रवाल

प्रकाशक

परिमल प्रकाशन
१७, एम० आई० जी०
बाघम्बरी आवास योजना
अल्लापुर, इलाहाबाद–२११००६

मुद्रक

निर्भय प्रिंटिंग वर्क्स
७१८, दारागंज
इलाहाबाद–२११००६

आवरण एवं सज्जाकार
इम्पैक्ट, इलाहाबाद–२११००१

मूल्य : ४८ रुपये

प्रथम संस्करण
१९८९ ईसवी

परिमल प्रकाशन
१७,एम.आई.जी. बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर
इलाहाबाद २११००६ फोन-५२७७१

अनुक्रम

आलोचक पाठकों से

'जो शिलाएँ तोड़ते हैं' तथा इसके पूर्व प्रकाशित दो काव्य-संकलन 'कहें केदार खरी खरी' और 'जमुन जल तुम' एक विशेष योजना के तहत प्रकाशित किये गये। योजना का खुलासा 'कहें केदार खरी खरी' की भूमिका ('कैफियत' शीर्षक से) में विस्तार से किया गया है कि कैसे और क्यों केदार जी के समूचे साहित्य को प्रकाश में लाने की योजना बनी।

लेकिन खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि हमारे यहाँ अपढ़ आलोचना का इधर काफी बोलबाला है। हमारे आलोचक पाठक बन्धु पुस्तकों को यहाँ-वहाँ से टटोलते हैं, और एक चावल से पूरी बटलोई के चावल की स्थिति का पता चल जाने की तर्ज पर, पूरी कृति पर फतवा दे डालते है। कुछ-कुछ यही हादसा 'कहें केदार खरी खरी' के साथ भी हुआ। लोगों ने भूमिका पढ़ी नहीं, योजना की आत्मा तक पहुँचे नहीं और अपनी राय ठोंक दी *'इस संकलन में संकलनकर्ता ने संख्या बढ़ाने की दृष्टि से कमजोर कविताओं के संकलन का मोह नहीं त्यागा है।'*

मुझे ऐसे लोगों की बुद्धि पर अगर कुछ आता है, तो मात्र तरस आता है, और कुछ नहीं।

केदार जी के पास कविताओं की कोई कमी नहीं है, न संख्या की दृष्टि से, न गुणात्मकता की दृष्टि से। ऐसी स्थिति में जाहिर है कि संख्या बढ़ाने का कोई अर्थ नहीं हो सकता, इतनी समझ मुझे है; और न ही इन संकलनों के छपने से केदार जी की पहले से स्थापित आदमकद मूर्ति में कोई इजाफा होने वाला है, यह भी मैं जानता हूँ। अगर वे अब कुछ भी न लिखें और उनका कुछ भी प्रकाशित न हो, तब भी वे जहाँ स्थित है, वहाँ से टस से मस नहीं होंगे और वह स्थिति है—प्रगतिशील कविता का शीर्ष।

इस संकलन को ले कर केदार जी की अब तक तेरह काव्य पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और उन सभी संकलनों में कोई भी कविता ऐसी नहीं है, जो किसी दूसरे सकलन में हों। इतना समृद्ध है, केदार जी का काव्य-संसार। जब कि परम्परा ऐसी है कि कुछ कविताएँ इस संकलन की, कुछ उस संकलन की, कुछ नयी मिला कर, जोड़-गाँठ कर एक नया संकलन छपा दिया जाता है और संकलनों की संख्या में वृद्धि कर दी जाती है। यह क्रम, नया लिखने की अक्षमता में आगे भी कायम रहता है। केदार जी को इस छल-पद्धति का सहारा लेने की जरूरत नहीं पड़ी और न आगे ही पडेगी, क्योंकि वे सृजन कर्म में अभी भी पूरी ऊर्जा के साथ रत हैं, उनकी रचना-दृष्टि शत्-शत् सूर्यालोक से दीप्त है और संभावनाओं के अनन्त क्षितिज उसमें कैद है। वैसे अभी लगभग ५०० कविताएँ तो पहले की लिखी हुई ही प्रकाशन की पंक्ति में हैं। इसलिए इन संकलनों के प्रकाशन की जरूरत संख्या बढ़ाने के लिए नहीं महसूस की गयी।

हाँ! अगर जरूरत महसूस की गयी तो महज इतनी कि केदार जी के प्रगतिशील रचनाकार की यह जो आदमकद मूर्ति है, इसके पहले के विकासमान उतार-चढ़ाव क्या हैं, किन-किन स्थितियों और मानसिकताओं से होता हुआ, शिल्प के कितने संघर्षपूर्ण मार्गों को तराशता हुआ, कवि शिल्प के वर्तमान शिखर पर पहुँचा, उसकी जाँच-पड़ताल की जा सके, ताकि नयी पीढ़ी इस विकास-यात्रा के पग-पग से रू-ब-रू हो सके और कुछ सीख सके। इसके साथ ही यह भी महसूस किया गया कि चूँकि अब तक का केदार जी का समूचा साहित्य परिमल प्रकाशन से ही छपा है, इसलिए उनकी पूरी रचना-सम्पदा को प्रकाशित करना परिमल प्रकाशन का दायित्व भी हो जाता है।

'कहें केदार खरी-खरी' की तरह उसके बाद प्रकाशित 'जमुन जल तुम' पर भी कुछ-कुछ इसी प्रकार के आरोप लगाये गये, जब कि 'जमुन जल तुम' को

'भूमिका ('कैफियत के बाद' शीर्षक से) में पहले लगाये गये आरोप का उत्तर और पुनः योजना का स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन उसकी रेखांकित विशिष्टताओं, वस्तुनिर्माण के उद्देश्य और उस उद्देश्य को पूरा करने में वस्तु की सार्थकता की कसौटी पर ही सही और न्यायसंगत होगा। अगर हम सुई की आलोचना के लिए तलवार की कसौटी को स्वीकार करेंगे, तो जाहिर है हम अपने बुद्धि के दीवालियेपन को ही जगज़ाहिर करेंगे, लेकिन जिसे ऐसा करना होगा या जो वास्तव में ऐसा ही होगा, उसे मैं क्या—कोई भी ऐसा करने से रोक नहीं पायेगा।

इसलिए मैं अपने आलोचक पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि एक बार 'कहे केदार खरी-खरी' की भूमिका जरूर पढ़ लें और योजना से अवगत हो लें, ताकि इस संकलन या इस योजना के तहत् प्रकाशित होने वाले आगे के संकलनों के मूल्यांकन में वे न्याय कर सकें और उसकी भूमिका को रेखांकित कर सकें।

प्रस्तुत संकलन में सन् १९३१ से सन् १९४८ तक की अब तक पुस्तक के रूप में अप्रकाशित रचनाओं को सजाया गया है। इसके चुनाव के पीछे, मात्र काल-क्रम के और कोई दूसरा ऐसा आग्रह नहीं है, जिसे यहाँ बताने की जरूरत हो। ये कविताएँ केदार जी की ६५ वर्षों की रचना-यात्रा के विकासमान राजमार्ग तक पहुँचने की ऊबड़-खाबड़, धूल-धूसरित, कंटकित कुछ खेत, सीवान, मेड़ और पग-डण्डियाँ हैं, जो यह इंगित करती हैं कि केदार जी जनपक्षधरता केवल मौसमी उबाल नहीं है, बल्कि उसके पीछे एक संघर्षपूर्ण, सार्थक, सुदीर्घ रचना-परम्परा है।

केदार जी आज के नये रचनाकारों की तरह पुराने का विरोध मात्र पुराना होने के कारण नहीं करते। वे अपने पूर्व के रचनाकारों का सम्मान करते हैं, उनके प्रदेय को आभार सहित स्वीकार करते हैं और उन्ही की परम्परा की डोर पकड़ कर उसे कई नये मोड़ देते हुए आगे ले जाते हैं। वे सवैया भी लिखते है, कवित्त भी और समस्यापूर्तियाँ भी तथा तुकान्त रचनाएँ भी, पूरी मर्यादा की रक्षा करते हुए रचते हैं।

केदारजी गहन इंद्रिय-संवेदना, सामाजिक प्रतिबद्धता के गहरे सरोकार, आधुनिकताबोध और विकासमान ऐतिहासिकता की संयुक्त समझ से पैदा हुई भीतरी छटपटाहट, लोक-सौंदर्य और किसान-चेतना की मस्ती और उसकी उत्सव-धर्मिता के ऊर्ध्वमुखी कवि हैं। खेत, खलिहान, कारखाने, कचहरी, नदी, पहाड़,

गाँव, शहर, फूल-पत्ती, पेड़-पक्षी, रंग-स्पर्श, गन्ध आदि के बहुआयामी सन्दर्भों के द्वारा मनुष्यता की तलाश के धरती से जुड़े वे एक ऐसे कवि है, जो इस युग की अनास्था की आँधी और रेगिस्तानी लपट के बीच भी लहलहाते हुए आज तक हरे के हरे है और आगे भी रहेंगे।

उनकी कविता पूरी स्वस्थ सांस्कृतिक विरासत तथा स्थानीयता के इन्द्रधनुषी रंगों से रची-बसी, आदमी के संघर्षमय जीवन का आकुल संगीत है, जो युगीन दबावों और उसके अंतर्विरोधों को पूरी विश्वसनीयता के साथ उजागर करती है तथा शोषण की कलई खोल कर उसके विरुद्ध संघर्ष करने को प्रेरित करती है।

माटी की सोंधी गन्ध से गमकती केदारजी की कविता में शोषण-उत्पीड़न का अन्तर्विरोध, यथार्थता और सृजनात्मकता की अतुल संभावनाओं के साथ पूरी वस्तुनिष्ठता से मंडित कलात्मक ढंग से व्यक्त हुआ है। शोषण का विरोध तथा वर्ग-संघर्ष के साथ प्रेम की ऊष्मा नारी और प्रकृति का सौन्दर्य मार्क्सवादी वैज्ञानिक दर्शन, कचहरी की छल-छद्म-भरी जिन्दगी के मीठे-कड़ुवे अनुभवों, रोज-मर्रा की जिन्दगी के छोटे-छोटे बिम्बों, या मनुहार के क्षणों के नन्हे-नन्हे ताजे टटके विविधवर्णी गुलमेंहदी के फूलों ने मिल कर ही कवि के संवेदन-संसार की रचना की है। उनकी कविता स्थानीय रंगों से रंगी, जनता की भाषा में वास्तविकता के तनाव और उसके सौन्दर्य को पूरी गहराई से पकड़ते हुए, ध्वन्यात्मकता, प्रवाह, लयात्मकता, दृश्य-बंधन तथा स्पर्श की आहट से हमारे संस्कारों को जगाती, दुलराती उनका परिष्कार करती है और जरूरत पड़ती है तो सीधी मार करने वाले पैने तथा महीन मार करने वाले गम्भीर व्यंग्य का चाबुक भी लगाती है।

यही कारण है कि रूप और कथ्य को, परिमाण और गुणात्मकता दोनों दृष्टियों से, जितनी बहुआयामी विविधता केदार जी के पूरे साहित्य में मिलती है, उतनी दूसरों में नहीं। इसीलिए समीक्षक उनके मूल्यांकन के लिए जो चौखटा बनाते हैं, वह छोटा पड़ जाता है। यह संकलन भी एक ओर तो समीक्षकों के लिए यही मुश्किल पैदा करेगा, और दूसरी ओर केदार-साहित्य के विशाल फलक से साक्षात् करायेगा।

इस संकलन को आपके हाथों तक पहुँचने में आदरणीय अग्रज ओंकार शरद,

भाई अविरुनीकुमार उपाध्याय (आइ० एफ० एस०) तथा श्री राधेश्याम अग्रवाल (स्वत्वाधिकारी, इपैक्ट, क्रियेटिव सर्विसेज, इलाहाबाद) ने जो मदद दी है, इसके लिए मैं इन सबका आभार मानता हूँ।

आदरणीय केदार जी, जिन्होंने इस संकलन को मनचाहे ढग से तैयार करने की मुझे छूट दी और अपना विश्वास दिया, उनके लिए मैं कृतज्ञ हूँ और उनके विश्वास की रक्षा कर सकूं, इसके लिए मैं उनके आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ।

अग्रज शिवकुमार सहाय जी तो इसके कर्त्ता-धर्त्ता ही है, इसलिए उन्हें धन्यवाद देना और न देना दोनों बराबर है।

—अशोक त्रिपाठी

२२ लाउदर रोड,
इलाहाबाद–२११००२

जो शिलाएँ तोड़ते हैं

प्रेम-निवेदन

ओ शक्तिवान !
सामर्थ्यवान !
उस पार क्षितिज से गा न गान
वैभव पूरित यह गा न गान—
"मैं हूँ महान—मैं सुख-निधान।"
ओ शक्तिवान !
सामर्थ्यवान !

होते माता के चकित प्राण,
विस्मृति कर वह शिशु प्रेम-ज्ञान
करती तव पूजा-पाठ-ध्यान !
ओ पूज्यवान !
सामर्थ्यवान !

शिशु निद्रित पलकें खोल खोल,
रो रो रह जाता बोल बोल—
बंचित सुख से माँ के अमोल।
ओ सुख निधान !
ओ पूज्यवान !

आराध्य

(श्री सोहनलाल द्विवेदी को उत्तर)

जिसकी छवि में विश्व मुग्ध है उसको 'जी से प्यार' करो,
उस 'प्रिय के चरणों में अपना जीवन धन बलिहार' करो।

'रूप रहा करता' सब दिन है 'जो आँखों को ललचाता,'
फिर जैसे हो उस प्रसून पर 'अलि बन कर गुंजार' करो।

'हृदय-हृदय को अपना कर बरसाता अमृत की धारा,'
मोर बने रह उस घन के तुम 'नव जीवन' की चाह करो।

किन्तु जहाँ पर 'स्वार्थ ठहरने देता है दिन चार नहीं,'
उन कर्मों को खोजो मत जिनसे दुखमय संसार करो।

अपने स्वामी-सा 'होगा चिरसंगी कौन विश्व-भर में,'
'क्यों न उन्हें ही इष्ट मान निशि दिन पूजा-सत्कार करो॥'

१८ फरवरी, १६३२

प्रभात-गान

माँ ! कौन वहाँ रहता है ?
वह जहाँ सुनहले नभ का रँग पानी में पड़ता है,
उसके भीतर घर किसका ? कैसा अच्छा लगता है ?
माँ ! कौन वहाँ रहता है ??

जल के ऊपर लहरों का हाँ, उधम नहीं मचता है,
छप् छप् कर कोई भी तो इक पोत नहीं बहता है;
माँ ! कौन वहाँ रहता है ??

मैं दौड़ वहाँ ही जाऊँ मन मेरा यह करता है;
देखूँ क्या कोई बालक रँग में खेला करता है ?
माँ ! कौन वहाँ रहता है ??

माँ ! परिचय पा उसका फिर जो खेल कहीं मचता है,
तो देखोगी दिन आहा, सुख से कैसे कटता है ?
माँ ! कौन वहाँ रहता है ??

१ मार्च, १६३२

दीप शिखा

माँ ! दीप-शिखा क्यों इतनी
पल-पल थर-थर कँपती है ?

यह गोदी के बच्चे-सी—
लघु है फिर क्यों डरती है ?

दिन-दिन भर कहाँ न जाने
यह छिपी छिपी रहती है ?

निशि आते ही आती है,
मैं सोती, यह जगती है !

यह सँग में कभी न मेरे
आकर खेला करती है !

मैं भय से बच जाती हूँ
जब सँग में यह रहती है;

पर भय से यह सहमी-सी
बेचैन बड़ी रहती है !

माँ बड़ी निठुर है इसकी
जो इसे विलग रखती है !

माँ ! तू ही इसे मना कर
क्यों प्यार नहीं करती है ?

हम दोनों ही को जब तू
'घर का दीपक' कहती है !

२ मार्च, १८३२

माँ के प्रति

माँ ! मैंने उस प्रभु को खोया।
तेरी गोदी में आ रोया !!

तन मे तेरे, मन में तेरे,
कोमलता की झलक समाई !
इसीलिये फूलों-सी अपनी
कोमलतम यह 'गढ़न' बनाई।

रजकण से तू, तिनके से तू,
अपने मुँह छोटी कहलाई !
महाकार इसलिये छिपा निज,
लघु आकृति शिशु की दिखलाई ।।

माँ ! मैंने उस प्रभु को खोया !
तेरी गोदी में आ रोया !!

दयादेवि तू, दयापात्र मैं,
पाल मुझे तू पालनहारी !
प्रेम प्रदायिनि ! आनंददायिनि।
जाऊँ तुझ पर मैं बलिहारी !!

मेरे हरि सा मुझे बना दे
ग्वाले को जैसे अवतारी !
आवे जिससे कभी न ऐसी
उसके खोने की फिर पारी !!

माँ ! मैंने उस प्रभु को खोया।
तेरी गोदी में जा रोया !!

३ जून, १६३२

सीख

(१)

आँख की फूली कट जाये ।
आँख अपनी ऐसी आँजो ।
आँख में घर कर लो सबके ।
पलक आँखो की यों भाँजो ॥

(२)

लाल पीली होती आँखें ।
धूल मत आँखों में फेंको ।
आँख पर बिठलाओ सबको ।
आँख पर बैठ आँख सेंको ॥

(३)

आँख में तिनका है सबके ।
बुरा मत कुछ इसका मानो ।
आँख पहिले अपनी देखो ।
आँख औरों पर तब तानो ॥

(४)

आँख उनकी चढ़ती सर पर।
ठोकरें जिनको खाना है।
आँख उनकी नीचे रहती।
सँभल कर जिनको जाना है॥

(५)

आँख में हो चरबी छाई।
आँख जो पापों पर अटके।
आँख ऐसी तो मुँद जाये।
आँख जो आँखों में खटके॥

(६)

आँख का तारा है वह तो।
आँख में जिसके पानी है।
आँख में शील नहीं जिसके।
आँख उसकी ही कानी है॥

(७)

आँख के अन्धे के आगे।
आँख के मोती मत डालो।
'नयनसुख' जो सचमुच ही है।
हार इनका उस पर डालो॥

१२ जून, १९३९

फूलो, फूलो, फूलो फूल

फूलो, फूलो, फूलो फूल !
पंखुरियों के पंखों पर तन, तरु के कर के मंजु मुकुर बन,
रम्य रुपहले पूर्ण-चन्द्र बन, रजत-कटोरी दुग्ध-धवल बन;
फूलो, फूलो, फूलो फूल !

गोले गोले इकटक लोचन, भोले भोले बाल बदन बन,
कोमल-कोमल नवल-नवल बन, विकसित सुरभित सरस सरल बन;
हरे-हरे पत्तो से मिल कर, तरु मानों जलधार बहा कर,
सट कर गुथ कर एक अंग कर, तुम्हें बिछा लें निज निज उर पर;
फूलो, फूलो, फूलो फूल !

थल महके, महके वर अम्बर, सागर सरिता और सरोवर,
महके अनिल सुरभि से भर कर, दश दिशि महके महर-महर कर;
आवें पागल प्रेमी मधुकर, बरबस खिंच कर और पुलक कर,
बेवस बेसुध 'गुन-गुन' स्वर कर, गावें गीत प्रणय के मृदुतर;
फूलो, फूलो, फूलो फूल !

१५ अगस्त, १६३२

दीपक

ओ दीपक ! ओ ज्योति अमर !

गर्भाशय में अमानिशा के
किसने तुम्हें फँसाया ?
आह, तुम्हारी विवश दशा लख
उर मेरा भर आया ।

सिहर सिहर कर लौ कहती है
तुमने जो न बताया,
इस चुप्पी की निष्ठा में उफ,
ऐसा खेद छिपाया !

बढ़े ऊर्ध्व उच्छ्वास मार्ग से
इतना कष्ट उठाया !—
लाख लाख चक्कर पर चक्कर
प्रति पल तुमने खाया !

वातावरण तमोमय जो था
चल कर श्वेत बनाया,
किन्तु निकल जाने का तो भी
द्वार न कोई पाया !

आ कर फिर रम कर दीवट पर
रोता हृदय दिखाया।
आये शलभ प्राण-धन देने,
बिगड़ा—खेल बनाया !

पागल हो कर रोई रजनी,
फेंकी हीरक-माला,
चिर-समाधि-दीवट पर आई,
बिन्दु एक था काला।

दीखा उधर पूर्व से कोई,
हँस कर जाता ऊपर।
ओ दीपक ! ओ ज्योति अमर !

११ सितम्बर, १९३२

दीपक

ओ दीपक ! ओ ज्योति अमर !

गर्भाशय में अमानिशा के
किसने तुम्हें फँसाया ?
आह, तुम्हारी विवश दशा लख
उर मेरा भर आया ।

सिहर सिहर कर लौ कहती है
तुमने जो न बताया,
इस चुप्पी की निष्ठा में उफ,
ऐसा खेद छिपाया !

बढ़े ऊर्ध्व उच्छ्वास मार्ग से
इतना कष्ट उठाया !—
लाख लाख चक्कर पर चक्कर
प्रति पल तुमने खाया !

वातावरण तमोमय जो था
चल कर श्वेत बनाया,
किन्तु निकल जाने का तो भी
द्वार न कोई पाया !

आ कर फिर रम कर दीवट पर
रोता हृदय दिखाया।
आये शलभ प्राण-धन देने,
बिगड़ा—खेल बनाया !

पागल हो कर रोई रजनी,
फेंकी हीरक-माला,
चिर-समाधि-दीवट पर आई,
बिन्दु एक था काला।

दीखा उधर पूर्व से कोई,
हँस कर जाता ऊपर।
ओ दीपक ! ओ ज्योति अमर !

११ सितम्बर, १९३२

चाँद

(१)

तेरा अपना घर नभतल,
मेरा अपना घर भूतल;
तेरा सपना पर भूतल,
मेरा सपना है नभतल;

(२)

तेरा हँसना नभ-थल भर,
मेरा हँसना करतल भर;
तेरा रोना उडुगन भर,
मेरा रोना जीवन भर;

(३)

तेरा नव नेह विमल भर,
उमड़ा पड़ता सुख-सागर;
मेरा नव नेह विमल भर,
जलता उर दीप निरंतर;

(४)

तुझको ढँकता घन श्यामल,
मुझको ढँकता दुख अंचल;
तेरा फटता घन श्यामल,
मेरा फटता उर कोमल;

(५)

तुझको उफ ! राहु कुटिल डस,
श्री-हीन बनाता बेबस;
मुझको कब जन्म-मरण डस
मेरा हरले आत्मिक यश ?

(६)

तेरा पद मुझसे घट कर,
मेरा पद तुझसे बढ़ कर;
तेरी छवि बाहर-बाहर,
मेरी छवि भीतर-बाहर;

२८ सितम्बर, १९३२

गीत

जीवन-संध्या आवेगी री;
मुझे अतिथि-सेवा में अपनी,
तन-मन से विरमावेगी री;
श्रमित, व्यथित, कम्पित, क्षोभित-कर
मेरी ओर बढ़ावेगी री;
अपने नील-अधर तक मेरी
जीवन-प्याली लावेगी री;
मन से मेरे प्रेयसि ! तेरी—
मीठी-याद भुलावेगी री;
गा तू यद्यपि गीत बिदा के
उसको द्रवित बनावेगी री,
तो भी वह तो अवसर आते
बिना हिचक ही आवेगी री;
जीवन-संध्या आवेगी री !

२५ नवम्बर, १९३२

विवशता

इस राह का जाना नहीं है भला इसको हम पूर्व से जानते हैं,
दिल टूटते हैं चल थोड़ी-सी दूर इसे हम सत्य ही मानते हैं।
फिर भी इस शूल भरे पथ पै हम दौड़ने की हठ ठानते हैं,
कर ही सकते पर क्या हम हैं जब एक यही पथ जानते हैं॥

सन् १६३२ ई०

दीपक

इतनी शान्ति और मादकता नेह शिखा में तेरे!
जिन्हें मोल प्राणों से लेते नित्य पतंग घनेरे।
यदि सम्भव होता मुझको भी लौ में लय हो जाना,
जीवन की ही बाजी में फिर होता उनका पाना॥

सन् १६३२ ई०

पद-चिह्न

पद भार से हूँ पथगामी के मैं इस नीची दशा को गिराया गया;
गति रोकी गई सर-तीर से है फिर पंक में खूब फँसाया गया।
नव-नेह-तरंग-तरंगित है कल कंज दिखा ललचाया गया;
भरमाया गया, तरसाया गया कलपाया गया न मिलाया गया॥

सन् १९३२ ई०

कीर की विवशता

(१)

निज नीड़ की याद सताती यहाँ मन हो गया शोक से पूर्ण हमारा;
तिनकों का बना सुषमा से सना लगा डाल पै था प्रिय प्राण,सहारा।
सुख का अब नाम निशान कहाँ! करते हैं बड़ी हम ऊब गवारा;
रचते हैं नया घर कल्पना में करते हैं सदा दृग नीर का चारा॥

(२)

उड़ना पर खोल के भूल गये, सुख सारे स्वतंत्रता के ठुकराये;
इस पींजड़े में बुरे आ फँसे हैं, चुगना अब दाने पड़े जो पराये;
दुख बाँटना साथियों का भी गया, हम आँसुओं से भी गये बिलगाये।
इस धाम के वासी का काम यही, सिया राम की मंजुल तान लगाये॥

सन् १९३२ ई०

बुलबुल की जवानी

अगर बगीचा बन जाता हो नीड़ हटा कर मेरा,
शीघ्र हटा दो माली उसको, क्यों सुख हो कम तेरा !
मेरा सुख हो चुका हेतु यदि उपवन की दुख छाया,
लेकर उसे समेट विश्व से कर दूँ सिंधु समाया।
उड़ कर दूर गगन में दुख के नीड़ करूँगी अपना,
अधजागी जीवन रातों में, देखूंगी सुख-सपना।
आते हुये पवन से लेकर सौरभ मद्य पिऊँगी,
दुख की चोट लगा अंतर में अनुभव मोद करूँगी।
समझूंगी, अब जो मुकलित हैं, हृदय कुंज में मेरे—
कुसुमाकर की प्रथम भेंट के मधुमय पुण्य घनेरे,
उनके चिर जीवन के हित यों भिक्षा इतनी कर दी,
अपनी आशा की कलियों से, विस्मृति झोली भर दी,
माया है उपवन में जिसकी हम उसकी छाया में।
शेष बितानां है अब जीवन रह इस ही काया में॥

सन् १९३२ ई०

मालिन

वर वसन्त ऋतु को शोभा से, वन में थी शोभा छाई;
मृदुल फूल फूले हँसते थे, देख जिन्हें मालिन आई।
कर से तोड़ सरस सुमनों को, झोली में उनको डाला;
पिरो पिरो कर जिन्हें सूत में, रच डाली अनुपम माला।
लगे हुये दर्पण के सम्मुख, लिये उसे आई वाला;
डाल दिया प्रतिबिम्ब वक्ष पर, किन्तु पैर पर थी माला।
छलक पड़े मालिन के लोचन, हृदय निराशा से छाया;
शून्य चेतना हीन अवस्था को अपना उसने पाया।
उठा लिया तत्क्षण फिर उसने, पोंछ लिये दृग के आँसू;
भारी दुख के समय निकल कर, धीरज देते जो आँसू।
आकर दर्पण निकट खड़ी हो, मालिन ने पहनी माला;
फिर देखा प्रतिबिम्ब, वक्ष पर पड़ी हुई थी माला।
परम असीम ज्ञान की महिमा, मानस में उसके आई;
चारों ओर उपस्थित जग में, अपनी ही सत्ता पाई॥

सन् १८३२ ई०

अभिलाषा

विधि ने यह हो लिखा भाल में, यदि मैं सच ही बढ़ पाऊँ,
बन कर कुसुम खिलूँ, खिल कर मैं, फिर रजकण में मिल जाऊँ;
तो भगवन! वह तेरी ही हो, पदरज वहाँ परम प्यारी;
मिल कर जिसमें कहूँ अन्त में, जीवन की घड़ियाँ सारी ॥

सन् १६३२ ई०

कामना

यदि भगवन्, तुम मुझे बनाना, फूल किसी उपवन का,
दे कर रंग पराग मृदुलता, रूप बढ़ाना तन का;
हो इसलिये नहीं यह सब फिर, झोंका एक पवन का,
मिट्टी में अस्तित्व मिला दे, सोने से जोवन का।
हो कर मैं आनंद, प्रेम से निज तन को छिदवाऊँ,
मोद पिरोया जाने में ही, जीवन का मैं पाऊँ।
माता सुत के गले पिन्हावे, लेकर फिर वह माला;
होता हो बलिदान देश हित, होकर जो मतवाला।
अच्छा है जीवन से अपने, निपटारा यों पाना;
अपना ही अस्तित्व मिटा कर, अपने को पनपाना ॥

सन् १६३२ ई०

आधुनिक शंकर

सारा पापाचार नष्ट होगा शीघ्र भारत का,
सत्यता-विमल-वर गंगा तू बहावेगा,
कपड़ा विदेशी आना बंद होगा भारत में,
चरखा त्रिशूल लिये पहरा लगावेगा।
दूर कर दासता पछाड़ पराधीनता को,
सत्याग्रह लोचन से आग बरसावेगा;
होंगे नौजवान वीर भा
शंकर का रौद्र रूप

गंगा महिमा

(१)

भसम रमी है अंग रंग, रँग्यो अंग ही के,
सँग मांहि भूत प्रेत राखिबै की मति है ॥
जहर जम्यो है कंठ कटि में कोपीन कासी,
घाली मुण्ड माल उर औघड़ की गति है ॥
सेवत मसान नैन तीन कौ विकट्ट रूप,
बैल असवारी करै अजुबी सुरति है ॥
कहते 'बालेन्दु' ऐसे अंग सती रमती न,
जो पै देखि लेंती नाँहि गंग लहरति है ॥

(२)

पेखि रतिराज के कुकाज दोस रोप आन,
संकर सरूप यों भयंकर सों ह्वै रह्यो ॥
कहत 'बालेन्दु' तब मदन कहन हित,
लोचन तिलोचन को तीसरी उध्वै रह्यो ॥
अगिनि प्रचंड बाढ़ि लागिगै छपाकर,
पै, सातो द्वीप नव खंड हाहाकार ह्वै रह्यो ॥
बरनि बुझावन कों जरनि जुरावन कों
गंग हिम नीर जटा जूटन सो च्वै रह्यो ॥

सन् १८३२ ई०

पति की टेक

सुन ले मेरी ब्याही औरत !
ऊपर से नीचे तक पूरा
अंगुल अंगुल इस देही का
मेरा ही बस मेरा ही है !

घर के भीतर बैंड़ी बैंड़ी
केवल दर्पण में मुख देखे;
लम्बे से घूंघट को खींचे
केवल चूड़ी की धुन सुन ले।

खाना ले ले, कपड़ा ले ले;
आने जाने दे यह साँसें;
पूरी कर दे पापी इच्छा;
दर्जन बच्चे पैदा कर तू !

२७ मार्च, १९३३

निराशावादियों के प्रति जीवन

एक बूंद अवसाद, सुखों के
सौ बूंदों का मेला !
कहते हो विष की प्याली में
मैं ही मिला अकेला !

'रोते आते जो आते हैं
जाते जो सकुचाते !'
बड़े क्रूर हो यदि तुम मुझको
ऐसा कठिन बताते !

आँसू की भाषा में भर दो
चाहे जितनी पीड़ा !
पीड़ा में ही तो होती है
सुख की लज्जा-क्रीड़ा !

फीकी लगती है मेरी-सी
लम्बी रात अकेली !
क्या सपनों से नहीं मिले हो
जिनकी प्रेम-हवेली ?

तुम्हें देख कर कह सकता हूँ
तुम क्यों इतना रोते?
प्रायश्चित कर कभी नहीं तुम
हो अपना मुख धोते!

अरे! 'विनय के गुलदस्ते में
क्यों बस गई उदासी?'
कुछ कलियाँ रह गईं भूल से
जगतीं जगतीं प्यासी!

हाथ रँगे हो उफ! शोणित से
पर आँखें शरमाईं!
क्या बच कर बिजली से तुमने
की मेरी अगुवाई!

फूलों को चुनने आते हो
काँटों से बिंध जाते!
क्या मस्ती है अपना-सा मुँह
सब का लाल बनाते!

कहते हो, 'कोई रोता है
अभी न कलियाँ खोलो!'
मैं कहता हूँ इस मुँह से फिर
कभी न ऐसा बोलो!

जाग रहे हैं तारे सारे
उनको पास बुला लो,
ऐसे सोने से अच्छा है
अपने पास सुला लो!

'प्रेयसि के पाने से पहले
मृत्यु कौन अपनाये ?'
वह भी कोई ईश्वर होगा
जो मरना सिखलाये !

कुछ भी नहीं तुम्हें पूछा है
की उसने नादानी।
अच्छा हुआ मुरूप-अर्चि पर
छिड़का अपने पानी !

'आई जरा दिखाई देता
नहीं दूर का कोई !'
पलकों से छूकर अब कह दो
मुझसा और न कोई !

कोटि विनय की तव बालों पर
कहीं सफेदी आई !
बहुत बड़े होने पर मैंने
यह सुन्दरता पाई !

ले चल मृत्यु ! जहाँ चलना हो
कहने मुझे कहानी,
रामनाम ले चुकी देख ले
पहली मेरी वाणी !

१० मई, १९३३

मित्र को पत्र

(श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल के पत्र का उत्तर)

हे अभिन्न ! हे प्रिय अक्षय मद !
हे मधु ! प्रेम-विहार !
हे समीप-तट ! हे सरोज-पथ !
हे हिमकर-अभिसार !
हे समीर ! हे रोमांचित नभ !
हे प्रिय-आशा-यान !
हे प्रभात ! हे पुष्प-स्वर्ग-पल !
प्रेम-हृदय ! हे प्राण !
पत्र तुम्हारा मिला प्रेम वर !
ले भावी-भय-भार।
किन्तु, न इस उद्दाम लहर से
मुझको हुआ विकार !
कवि-विरोध की कोप-भावना
क्षुद्रों की फुफकार,
उनकी रौरव-विषम वाञ्छना,
उनकी कलि-चीत्कार,
उनकी दारुण, निर्मम, आहें,

उनकी प्रलय-तरंग,
उनकी कुत्सित कुशल-विषमता,
उनकी कलुष-उमंग,
छू न सकेंगी हम कवियों के
पावन प्रमुदित गात !
ला न सकेंगी हम तक कोई
'औघड़' झंझावात !
कवि क्या है ? वह देवदूत है
जिसकी शक्ति महान,
जिसके संदेशों से होता
जग-जीवन—कल्याण !
कवि क्या है ? वह अविचल तप है,
शाश्वत प्रेम-नियोग !
जिसका प्रभु से है मर्माहत
शाश्वत प्रेम-वियोग !
कवि क्या है ? कल्याण-वेणु है
जिसकी मधुमय तान !
सुन पड़ती है, जभी बजाते
कोई भावुक प्राण !
कवि क्या है ? वह पुष्प-तरी है
रूप-भरी द्युतिवान,
परिमल पर तिरती है जो ले
स्वप्नों की मुसकान;
इन्द्र-धनुष के पुल के नीचे
सप्त-वर्ण तत्काल
रँग देते हैं रंग-बिरंगा

"जिसका कोमल पाल;
चढ़ कर जिस पर, ले शशि
कर में रजत किरण पतवार,
ले जाता है जिसे दिखाने
कौतुक का आगार !
दूर्वादल के कर कोमल पर
मुख को अपने भोर,
विस्मित नयन-अधर तकती हों
मुदित हमारी ओर !—
जहाँ शांति-शीतल-छाया में
विचर रहा उच्छ्वास,
और अनेकों आ विरमे हों
स्मृतियों के मधुमास !—
उतर, जहाँ पर प्रकृति हृदय का
पागल अमित खुमार
पाल रहा मीलित पलकों में
मुँदी कली का प्यार !—
धेनु-पयोधर-से उन्मद अंग,
सुर-सम्पति-मद-पीन,
मधुकोषों में जहाँ गूंजते
अक्षय काव्य नवीन !
तड़प तड़प कर इसी तरह से
प्रतिपल भर कर आह,
हम सम्भवत: ले सकते हैं
कवि-जीवन की थाह ।
खोल सकेंगे जो कवि जितने

हो रोमाञ्च अशेष;
निर्झर के मुखरित प्रवाह में
वहे हमारा यान,
पहुँचे वहाँ जहाँ ताने हों
तरु गन सघन-वितान;
मदमाती युवती शाखायें
लच यौवन के भार,
दोनों तट की हरित भूमि पर
पा शय्या-विस्तार,
कर न सकेंगी गीत हमारे
वे निस्पंद मलीन !
कर न सकेंगो ख्याति-व्योम में
अपना राज्य नवीन !
वे क्या हैं ? वे नही हमारी
आत्म-वेदना, प्यार !
वे क्या हैं ? वे नही हमारी
कविता के श्रृंगार !
वे क्या हैं ? वे नहीं हमारे
अधरों की मुसकान !
वे क्या हैं ? वे नही कल्पना—
वंशी की मृदु तान !
वे क्या हैं ? वे नहीं अलौकिक
रूप-कूप-छवि नीर
जो कवि के चातक-जीवन की
हर सकता है पीर !
वे क्या हैं ? वे नही झूमते

सौरभ-मत्त समीर,
उलझा जिसमें कुसुम-कुसुम का
रहता मादक चीर—
छूते ही, जिसके संग जाता
कवि लाने वे गान
खेल रहे जो घन-शिशुओं में,
फैला काव्य-वितान !
तब क्यों डरें उन्हें हम प्रियवर !
क्या उनका अधिकार ?
दीर्घ असाहित्यिक जीवन के
वे तो हैं अवतार !
हम मव के प्रतिकूल उठेंगे
और कई तूफान
जो भयप्रद हैं और अमिट हैं
प्यारे आयुष्मान !
कितने ही मरुथल आवेंगे
हमें बनाने म्लान !
कितने ही बादल गरजेंगे
ले तम-तोम महान !
ज्वालायें प्रतिपल नाचेंगी
ले अनंत अभिशाप !
उगलेंगे भूकंप अनेकों
हम पर दाहक पाप !
शीतल तट तक जहाँ चलेंगे
देख देख मृदु-नीर,
मृग-तृष्णा ही वहाँ मिलेगी

पीड़ा प्रिये अधीर !
तरह तरह से तंग करेंगे
आलोचक शैतान !
हमें रुलायेंगे काँटों से
उनके कुटिल विधान !
हम आयेंगे काव्य-कुंज में
नित होगा अपमान;
हम गायेंगे, नहीं सुनेंगे
लोग हमारे गान !
हम तड़पेंगे—बिदा हमारे
ओ विषाद ! उन्माद !
हम तड़पेंगे—बिदा, अरे
जग ! ओ अवसाद ! प्रमाद !
हे अरुणोदय-बन्धु ! प्रेम का
अपना रूप अनूप,
बाल-बादलों की छाया में
करो न व्यर्थ कुरूप !
पाया है कवि ने अनादि से
दुख का ही वरदान;
आँसू का, पीड़ा का, विस्तृत
आहों का निर्वाण।
इस जग में आने से पहले,
कवि होने से पूर्व,
विकल न होने का दृढ़ निश्चय
हमने किया अपूर्व !

जो कुछ भी हो सहते जाओ
गाते जाओ गीत,
उठता है वेदना-कली से
अमर आत्म-संगीत।

१७ मई, १९३३

कवि के गीत

न अन्तिम नव नव कुसुम विकास
न अन्तिम खग कुल-कलरव हास,
प्रथम नूतन नित् छवि-संगीत
प्रथम नूतन नित् कवि के गीत

१८ मई, १९३३

दीपक से

(प्रेमा के कवर के चित्र को देख कर)

भाग्यवान ! तू सिहर रहा था
भर कर अन्तिम आहें;
सब समेट कर ही ले ली थी
मुख पर अपनी बाहें
रूप रश्मि का पल में होता
जग-पलकों में सोना;
चिर-समाधि सा बन जाता तब
निशि का कोना कोना;
तम का पट तब फैला होता,
कलियों का मुँह मैला !
ओस विचारी रो-सी देती
फिरता तमचर छैला !
निद्रा के अधरों पर रुक कर
सपना तनिक सिहरता;
सोई सुन्दरता के सिर का
जूड़ा तनिक खिसकता;
अंतिम क्षण मेरा भी होगा

क्या न मनोहर ऐसा ?
रूप रूप को जगा रहा है,
दोनों हैं दीवाने,
नहीं मानते मृत्यु कहाँ है,
फँसे हैं मनमाने !
एक बुलाता हाथ बढ़ाये,
'बलिवेदी से आओ
मेरे साथ सदा जीने में
प्रेम-प्रकाश बढ़ाओ;
आँखों में आओ चितवन में
मेरे तीर चलाओ;
अलकों में आओ मेघों से
बिजली खूब गिराओ !
आओ अधर-कपोलों पर तुम
चुम्बन-रास रचाओ।
छू कर कुच-कुम्भों का यौवन
झूम झूम तुम गाओ !
सुन्दरता यदि सुन्दरता को
अपने अंग लगाये,
तब ऐसा है कौन विश्व में
जो उनको बिलगाये ?'
चला दूसरा बलिवेदी से
प्राणों पर इतराता,
आलिंगन को चिर-चुम्बन को
मृदु किरणें फैलाता !
वह कहता है—रूपसि तेरा

है संसार निराला
फीकी है इसके सम्मुख तो
सुरपति की छविशाला।
अमर देश है तेरा रानी!
तेरी अमर कहानी!
नहीं मृत्यु को रूप-राज्य में
होने पाई अगवानी!
तू मेरे प्रभु से अच्छी है
अरी! प्रेम की प्याली!
परिचय-हीन प्रणय से कर ली
प्राणों की रखवाली!
लोक साथ हैं तेरे सारे,
तू कब रही अकेली?
रूप! आज दे चूमूं तेरी
स्वर्ग समान हथेली!

२० मई, १९३३

पद्मांजलि

ले ले प्रभु ! नीरव पद्मांजलि

यह तन कोमल नवल कमल दल
नत नयनों का ही तप अविकल
स्वप्निल कुन्तल का यह परिमल
भक्ति-भाव का पुष्प विमल कल
ले ले प्रभु ! मेरी पद्मांजलि ।

नारी का यह लघुतम साधन,
सुन्दरता का प्रियतम मधु-धन,
जीवन का यह चिर आकर्षण,
मैं करती हूँ तुझे समर्पण;
ले ले प्रभु ! नीरव पद्मांजलि ।

१३ अक्टूबर, १९३३

विनय

एक एक सब
मेरे बन्धन
खुलें आज अब;

हरो शीघ्र तम,
पापात्मा का,
मानस का तम,

दुर्बल तन-मन,
चंचल-सुख में,
फिरूँ न वन-वन;

'मैं' औ 'मेरा,'
सदा बता तू,
सब कुछ तेरा;

पाये निश्चय,
मेरी आत्मा,
तेरा आश्रय;

मैं सुन्दरतम,
तेरे सम्मुख,
एक किरन सम;

शक्ति प्रबलतर,
मेरे कर में;
फूलों में भर।

निर्भय, निर्मम,
तू तिरने दे,
एक तरी सम;

तेरी कृति, सच,
तूफानों से,
जायेगी बच।

दे यह भिक्षा;
पूर्ण करूँ मैं,
तेरी इच्छा,

मधुर-अधर तक,
कभी न लाऊँ
एक गिला तक;

गीत-छन्द-प्रिय;
कोयल-सा हो
जीवन, मधु-प्रिय

अँध - भारमय,
कभी न होवें,
पंख वेगमय;

विनय करूँ नित,
पा जाऊँ मैं,
कृपा अपरिमित;

उर में घर कर,
छाप न छोड़े,
भ्रम की मोहर;

मृत कर, घातक
सन्देहों के
धुंधले दीपक;

दुख से बच कर,
दृढ़ विश्वासी
हो मम अन्तर;

निश्चय द्रुततर,
समय-मुक्त हो,
पहुँचूं बढ़ कर,

भूल दिशा-मति,
पाऊँ तुझको,
त्याग तर्क-गति।

जहाँ निरंतर,
तारक-सा तू,
ज्योतित मनहर।

एक एक सब
मेरे बन्धन,
खुलें आज अब;

परिवर्तित कर,
प्राण-वायु में,
मृत्यु शेष कर।

३० सितम्बर, १९३४

गीत

मेरा जीवन कवि का जीवन
सकल असत स्वप्नावलि परिहर,
प्रातः सबसे पहले जग कर,
करता सत् तत्वों का दर्शन;

मेरा जीवन कवि का जीवन,
किरन-निकर वर से आमंत्रित,
संसृति की वीणा से, सस्मित
करता प्रिय छन्दों में बन्दन;

मेरा जीवन कवि का जीवन,
प्रेम-विकल अविरल मधुराधर,
ऊषा के मधुराधर पर धर,
करता नव-जीवन का चुम्बन;

मेरा जीवन कवि का जीवन,
सरल-नवल मधु-मुकुलों में खिल,
मुदित, भ्रमित, प्रिय भ्रमरों में मिल,
गंधित-गुंजित करता मधुवन;

मेरा जीवन कवि का जीवन,
लहर लहर को छू कर, बस कर,
सर-सरिता-सागर में रम कर,
करता प्रति पल प्रतिपल नर्तन;

मेरा जीवन कवि का जीवन,
विधुर-तरल तरु-शिखरों पर चल,
ललितांचल में चंचल-चंचल,
करता साहस-पूर्ण-संचालन;

मेरा जीवन कवि का जीवन,
नव-नव आशा-रस में विलसित,
प्रेम-प्रीत-परिमल में सुरभित,
करता मानव का आलिंगन।

२० अक्टूबर, १९३४

मेरे ईश्वर !

मुझे बता दे मेरे ईश्वर ! कष्ट न क्या कम होंगे ?
बाधक और विरोधी पर्वत क्या न कभी सम होंगे ?
रपटीला है पथ दुर्गम है; निर्बल मैं चलता हूँ !
आगे को लख, तब पीछे से पाँव उठा हटता हूँ !
एक नहीं—दायें-बायें हैं खाई खाई खाईं
जिनमें दानव जीव-जन्तुओं की है गूँज समाई !
भय है ! भय है ! साहस छुटता, मैं व्याकुल कँपता हूँ।
जीवन की पोड़ा से पीड़ित मैं रोता रहता हूँ !
एक वेदना—एक यातना नहीं, अनेकों रहतीं,
रुला - रुला मेरी आत्मा को प्रति क्षण जीती जगतीं !
वे न शांत होतीं, जाती हैं; मैं उनसे पिस जाता,
आह ! आह ! क्या जीवन-रोदन ही जीवन कहलाता ?
सुख तो मैंने कभी न जाना; सुख है छलना, छाया !
बचपन और युवापन इनमें कुछ भी भेद न पाया—
बीत चुका है एक, दूसरा निर्ममता से रोता;
एक घाव पुर गया, दूसरा प्रति पल गहरा होता !
कौन सुखाये मेरे आँसू ? किससे रोना रोऊँ ?
कह कर क्या अपनी पीड़ा की सच्चाई भी खोऊँ ?
मुझे बता दे मेरे ईश्वर ! कष्ट न क्या कम होंगे ?
क्या छू कर तेरे चरणों को वे न मधुरतम होंगे ?

२० फरवरी, १९३७

उषा

थी अभी वहाँ जो पूर्व दिशा
तम का राक्षस जिसको हर कर
ले जाने को था दृढ़ तत्पर;
हाँ, वही विचारी पूर्व दिशा
व्याकुल, बेबस, रोती झर झर,
गल गई अन्त में पूर्व दिशा !
उफ, क्रमशः देह विमल सुन्दर
तप कर पिघली सोना बन कर,
थी अभी वहाँ जो पूर्व दिशा !
इससे जन्मी अब देवि उषा !
बलिदान हुआ साकार अमर !
जग का यौवन साकार अमर !
तुम अमर रूप हो देवि उषा !!

१८ मार्च, १९३७

सुख तो मैंने जाना

सुख तो मैंने जाना
केन-किनारे उसे देखता,
अरुणोदय के साथ खेलता;
दोपहरी की धूप झेलता,
सान्ध्य-स्वर्ण-श्री-दीप लेसता;

गाता निशि का गाना।
सुख तो मैंने जाना॥

कोई उससे नहीं बोलता,
साथ न कोई कभी डोलता,
लहरों में पीयूष घोलता,
पुलकानिल में पंख तोलता,

मिलता है मस्ताना।
सुख तो मैंने जाना!!

सन् १९३७ ई०

दोपहरी में नौका विहार

कल जैसी दोपहरी बीती वैसी कभी न बीती !
यों तो जाने कैसी कैसी दोपहरी हैं बीती,
कमरों में प्यारे मित्रों में हँसते गाते बीतीं;
कल जैसी दोपहरी बीती वैसी कभी न बीती !
गंगा के मटमैले जल में छपछप डांड़ चलाते,
सरसैया से परमठ होते, उल्टी गति में जाते,
तन का सारे जोर जमाते—धारा को कतराते,
आस-पास के जल-भ्रमरों से अपनी नाव बचाते,
धीरे-धीरे मजे-मजे से रुकते औ' सुसताते,
चुल्लू दो चुल्लू पानी पी मुंह को तरल बनाते,
आर-पार सब ओर ताकते आँखों को बहलाते,
पल-पल सूरज की गरमी में गोरे गात तपाते,
हाथों को मल-मल कर, रह रह दुख-संताप मिटाते,
फिर भी मौज मनाते, गाते, गुन-गुन गीत सुनाते,
खेते रहने की धुन में ही बढ़े चले थे जाते !
मैं था और मित्र थे मेरे, दोनों थे सैलानी;
काले घुंघराले केशो की वे थे खुली जवानी !
मैं थी लाल कपोलों वाली महिमामयी जवानी।
दो थे हम पर, दोनो की थी एक समान कहानी !

एक बजे से ले कर हमने साढ़े पाँच बजाये,
एक नहीं—छै छै छालों से दोनों हाथ दुखाये!
किन्तु नहीं हम इन छालों से किसी तरह घबराये,
चूम चूम तो हमने इनको मीठे दाख बनाये!

सन् १६३७ ई०

कवि सूर्यकांत के प्रति

इतने ऊपर उठ गए आज कवि
हम नीचे से देख रहे, तुम—
वहाँ नील-मुक्ताभ-वर्ण-व्यंजित प्रदेश में
पहन पाग केसरिया गाते
साथ-साथ रुनझुन रुनझुन रागिनियाँ करतीं,
कविता की प्रतिमा जग जाती,
प्रिय सहस्रदल अरुण कमल की अंजलि भेंट चढ़ाते!
हमें सूर्य की व्यापक प्रतिभा चकित बनाती!!

१० जनवरी, १६३८

मुल्लो अहिरिन

मुल्लो अहिरिन
गठिया ऐसी
ठिगनी-ठिगनी
लुढ़क-मुढ़क कर
चली जा रही।

सात, आठ, नौ
साल बाद के
उसके लौंडे
बड़े हो गये !
खुद सत्ताइस।

खाती-पीती,
सब कुछ करती,
किन्तु न बढ़ती
ज्यों की त्यों है
उतनी छोटी।

जिसने देखा,
उसी रूप की,
उसी रंग की,
इतनी छोटी
उसको देखा।

बाप नहीं है;
मात नहीं है;
सगा न कोई
घर में अपने
एक वही है।

चौदह-पन्द्रह
लिए बकरियाँ
घूम-घूम कर
दूर गाँव से
चली चराने।

गाँव पार कर
खेत पार कर,
मुल्लो अहिरिन
पहुँच गई हैं
अब पतार में।

आसमान सब
धूप-भरा है,

धरती नीचे
धूप-भरी है
तपन बड़ी है।

इधर-उधर सब
कहीं यहाँ पर,
इस पतार में,
बम्बुर-बम्बुर
खड़े दीखते।

तीन चार कुछ
और दूसरे
लौंडे भी तो
वहीं चराते
अपनी बकरी।

ताड़ गए वे;
घूम पड़े वे;
पहुँच गये वे;
घेर लिया, कह—
मुल्लो आई!

बैठ गई वह;
बैठ गए वे;
झीनी-झीनी

ऊपर छाया
बम्बुर की।

सबने उससे
बारी-बारी,
प्यार जताया
प्यारी! प्यारी
खूब पुकारा।

एक लगा जब
छाती छूने,
मुल्लो बोली,
इन्हें न छूना
दोख लगेगा!

कहा एक ने—
चुम्मा देना!
मुल्लो बोली—
अभी न माँगो,
सब माँगेंगे।

हाथ एक ने
डाल कमर में
बोला-प्यारी,
कह न सका कुछ
और, रहा चुप!

मुल्लो बोली—
उसको पकड़ो,
वह रम्पा है
तुमको तो कल
उसने पटका !

इसी समय तब
बों-बों करता,
गपुआ वाला
तगड़ा बकरा
फौरन झपटा !

'मार-मार' कह
मुल्लो दौड़ी
अपनी बकरी
तुरत बचाई
लौंडे हँसते !!

७ फरवरी, १९३८

जून की बरसाती वायु

दिन की लुआर रुकी
मानो खड्ग झुकी, गिरी, टूट गई;
मृत्यु मिटी !
शाम के सुहाग-सिंधु से अमंद
वायु उठी दिगदिगन्त !
रोम रोम से प्रकम्प फूट पड़ा,
वृद्ध हड्डियों से
आसमान की, यौवन उमड़ पड़ा—
छलक, छलक पड़ा
घड़ा रस-भरा मधु-यामिनी के शीश का !
प्राण मिले धरणी को,
मरु को समुद्र मिला एक एक बूंद में !
वक्ष खुले,
हृदय धुले,
घुले मेरु खंड खंड,
गूँजा स्वर सजल, अनंत का !!

३ जून, १९३८

मकड़ी का जाला

दार्शनिक की कोठरी में—
लाखों ज्ञान-ग्रन्थ जहाँ
लक्कड़ से एक पर एक सुंचे पड़े हैं,
और जहाँ,
एक ओर एक कोढ़ी
टूटी चारपाई पर लेटा हुआ
मौत को पुकारता है आँख मीचे;
वहीं—उसी कोठरी में बाईं ओर
मकड़ी के जाले का
एक तार बाकी रहा बुनने को !!

१६ जून, १६३८

मेरी कविताएँ

स्वादी संसारियों को
मेरी कवितायें, दोस्त !
वैसी ही रुचेंगी जैसे
रोटी हथपोई मुझे
परवर के सूखे साग
कड़ुवे मिरचे के साथ
खूब रुची
तुमने जो बनाईं थीं !

१४ फरवरी, १९४०

गाँव की औरतें

गाँवों की औरतें
गन्दी कोठरियों में हाँफती—
खाँसती, खसोटती रूखे बाल
घिसती हैं जाँता जटिलतर;

गाँवों की औरतें
सूखा पिसान फाँक-फाँक कर,
पीठ-पेट एक कर—हाड़ तोड़
मरती हैं पत्थर रगड़ कर !!

१० अप्रैल, १९४०

गुरुवर

गुरुवर बतलाते व्रत
शिष्यों को संयम का
ब्रह्मचर्य पालन का।
उनकी पवित्र वाणी
कमरे में भरती है
कर्कश कर शांति-भंग !

मन ही मन बालक-गण
गुरुवर को मूर्ख मान,
उनकी बकझक बिसार
आँखों की कोरों से
देखते हैं चुपचाप—
दोनों कबूतरों को
ऊपर जो कानिस पर,
पंखों पर पंख रखे,
करते हैं गुटरगूं !

१०, अप्रैल, १९४०

बिल्ली

बिल्ली ने दूध सब पी लिया
पंजों से मुँह पोंछ
बिल्कुल निश्चिन्त हो
खिड़की पर बैठ गयी काजल के रंग की !
हेमा ने रो दिया,
बिल्ली ने दूध सब पी लिया !

बाहर भी आर पार
छाई है घोर घटा,
बदली ने धूप सब पी लिया।
प्रकृति ने रो दिया !

पानी का दौंगरा
पहरों तक खूब गिरा,
दुनिया सब डूबती !

धरती आकाश की
काली दो बिल्लियाँ
आँखें चमकाती हैं
घातक षड्यंत्र में

१ सितम्बर, १९४० ई०

धरती की मृत्यु है

धरती की मृत्यु है !
कोड़े की मार-से
चमड़ी को खीचते,
पड़ते है जोर से
पानी के दाँगरे !
धरती की मृत्यु है !!

बीहड़ घन-घोर की
ठोकर की चोट से
तड़-तड़ हो टूटती
हड्डा की खोपड़ी !
धरती की मृत्यु है !!

गुस्से से गाज भी
खूनी नाखून से
छाती को छेदती
दिल को मरोड़ती !
धरती की मौत है !!

८ अक्तूबर, १९४०

पुरवैया

कोमल दूब हरी धरती पर
विद्युत की शोभा से सज कर
नाच रही युवती पुरवैया !

लय में लीन अचंचल हो कर
एक दृश्य हो रही मनोहर;
चारु चित्र चंचल पुरवैया !

वन के दल बादल छहरा कर
नील नवल लँहगा लहरा कर
घेर रही क्षिति को पुरवैया !

सरका चीर, खुला अवगुंठन,
निर्जन में होता सम्मोहन,
रोम रोम माती पुरवैया !

बजते हैं बूंदों के घूंघर
होता है मादक मीठा स्वर
करती है छम छम पुरवैया !!

कोमल दूब हरी धरती पर !!

१८ अक्तूबर, १६४०

स्वाद

भून दो आलू को आग में;
गोले को,
जिस पर हम रहते हैं,
डाल दो इसको भी आँच में;
स्वाद तब आयेगा दोनों को !!

८ फरवरी, १९४१

अभयनाद

प्रातःकाल मंदिर में
अभयनाद होता है—
बम् बम् बम् महादेव !

गंगा-स्नान कर एक जन आया;
श्रद्धा से—भक्ति से
शिवजी की मूरत पर दूध को चढ़ाया;

मन ही मन बोला वह—
मैं तो प्रभु चोर हूँ;
मेरी भी माफी हो,
भक्तों में आपके मेरा भी नाम हो;
मैंने तो पाप भी आपके भक्तों से
कम ही किया;

देखो तो,
सेठों ने लूट कर दुनिया की दौलत को
आपको थोड़ी दी;

उसको भी मंदिर के रक्षक ने
आपसे छीन कर
चोरी से पेट में भर लिया;

मैं तो इन सब से प्रभु ! अच्छा हूँ;
मेरा उद्धार हो !
प्रातःकाल मंदिर में
अभयनाद होता है

८ फरवरी, १९४१

मच्छर

मस्ती में झूमते मच्छण महाशय जी
कोने में पहुँचे जब गाते सितार पर
फौरन मुंह खोल के नन्ही छिपकली ने
गुट्ट से गुटक लिया !
मौत मुँह बाये है दुनिया के वास्ते !!

८ फरवरी,१९४१

गौरैया

मेरे यहाँ
घर में जहाँ सब कोई
पूरे कामकाजी हैं,
कोई तो निठल्ला नहीं बैठता है,
सौदापाती वेचने में
होते ही सवेरा सब ऐसे फँस जाते हैं
भुनगे दस बीस जैसे मकड़ी के जाले में !

मेरे ऐसे घर में,
जिसे बहुत फुरसत है
यही गौरैया है ।

इसका एक खोंचकिल है
खपरों के नीचे और धन्नियों के बीच में;
नाचती है, कूदती है आँगन में;
एक ही उछाल में
ऊँचे अक्कास में
ऐसी तन जाती है जैसे वहाँ घर हो;

फिर मुझे ऊपर से, आँगन में खड़ा हुआ
देखती है देर तक !

और जब
पीले पीले पन्नों में किताब के
मेरा ध्यान जमता है,
फुर्ती से नीचे आ,
फुर्र फुर्र करती हुई
सामने ही आँगन में
नाचती है, कूदती है;
मेरा मन मोहती है !

दुनिया के धन्धों से उचाट पैदा करती है !
चूं चूं कर
चूं चूं कर
लाख बार, सौ बार,
दिन में हजार बार,
ऐसे ऐसे गीत गा कर
मुझको सुनाती है
मैंने जिन्हें सुने नहीं।

मेरी गौरैया का मेरा बड़ा प्यार है !

१० फरवरी, १९४१

फागुन का दृश्य

पूर्व दिशा ने खेली होली
लाल गुलाल अबीर उड़ाया
मार मार केसर पिचकारी
सराबोर कर दिया प्रकृति को,

सर को खोले, गुहे चोटियाँ
गेहूँ की सुकुमार बालियाँ—
पके रंग—दुबले शरीर की—
खड़ी खेत में रँगी राजती;
चले हवा के हल्के झोंके
तन से खुलते वस्त्र-पत्र के;
एक एक से मिल कर सट कर
लज्जा से लग गयीं सँभलने;

देख देख यह दृश्य मनोरम
छैलचिकनिये चले ठुमकते,
अपनी अपनी मधुर घंटियाँ
बजा रहे हैं खुश हो हो कर;

फिर मुझे ऊपर से, आँगन में खड़ा हुआ
देखती है देर तक !

और जब
पीले पीले पन्नों में किताब के
मेरा ध्यान जमता है,
फुर्ती से नीचे आ,
फुर्र फुर्र करती हुई
सामने ही आँगन में
नाचती है, कूदती है;
मेरा मन मोहती है !

दुनिया के धन्धों से उचाट पैदा करती है !
चूं चूं कर
चूं चूं कर
लाख बार, सौ बार,
दिन में हज़ार बार,
ऐसे ऐसे गीत गा कर
मुझको सुनाती है
मैंने जिन्हें सुने नहीं ।

मेरी गौरैया का मेरा बड़ा प्यार है !

१० फरवरी, १६४१

फागुन का दृश्य

पूर्व दिशा ने खेली होली
लाल गुलाल अबीर उड़ाया
मार मार केसर पिचकारी
सराबोर कर दिया प्रकृति को,

सर को खोले, गुहे चोटियाँ
गेहूँ की सुकुमार बालियाँ—
पके रंग—दुबले शरीर की—
खड़ी खेत में रँगी राजती;
चले हवा के हल्के झोंके
तन से खुलते वस्त्र-पत्र के;
एक एक से मिल कर सट कर
लज्जा से लग गयीं सँभलने;

देख देख यह दृश्य मनोरम
छैलचिकनिये चले ठुमकते,
अपनी अपनी मधुर घेंटियाँ
बजा रहे हैं खुश हो हो कर;

भ्रम में पड़े गाय औ बछड़े
पूँछ उठा कर घुमा रहे हैं
पलक मार कर जल्दी जल्दी
रँभते बचते कूद कूद कर;

इधर उधर मेड़ों के ऊपर
सुन्दर सुन्दर चतुर पुछारें
सतरंगे पखने फैलाये
नाच रही हैं किन्नरियों सी;

टुइयाँ की मीठी-सी बोली
प्यारी प्यारी प्रेम-पगी है;
शरमीली कोयल की मीड़ें
मंत्र मारतीं वशीकरण के;

एक ओर रसराज-विभव है,
प्रकृति-मोहिनी की माया है;
एक ओर सब बन के पंछी
वीर भाव से सैरा गाते!

२० फरवरी, १९४१

फागुन

दिन आये फागुन के
मैदानों-खेतों से
गावों के ऊपर से
हर कर के कुहरे के गाढ़े से घूँघट को,
ऊषा की लज्जा की लाली में रँगने के
दिन आये फागुन के !

आभूषित आशा की कोंपल से आच्छादित
वृक्षों की बाहों को प्रेमाकुल फैलाये,
मीठी-सी मस्ती में तन्मय हो जाने के !
दिन आये फागुन के !

रस भर के मधु भर के पंखुरियाँ यौवन की
वन वन में उपवन में शरमीले फूलों की,
ओठों से आँखों से रूपासव पीने के
दिन आये फागुन के !

आमों के बागों में झाझों की झनझन में
ढोलक की बोली में वंशी की मीड़ों में

भ्रग

पूंछ

पलक

रँभते

इधर उधर मेड़ों के ऊपर
सुन्दर सुन्दर चतुर पुछारें
सतरंगे पखने फैलाये
नाच रही हैं किन्नरियों सी;

दुइयाँ की माँ
प्यारी प्यारी
शरमीली कोय
मंद मारती वशी

एक ओर रसराज-विभव है,
प्रकृति-मोहिनी की माया है;
एक ओर सब वन के पंछी
वीर भाव से सैरा गाते!

२० फर०

देहात का जीवन

सुन तो जल्दी अरी घसिटिया !
आ जा बाहर जल्दी से तो !!

बीसों बोल बुलाए मैंने
होकर खड़े दुआरे तेरे।
तू मत समझे, अभी अभी ही
गुप्त काम को मैं आया हूँ !!

धूप भरी है अभी बावली !
रात अँधेरी दूर पड़ी है।
मत चिकनाए गाल कलूटे,
तेल थपोके सर पर कड़ुवा !!

सुन तो जल्दी, जल्दी से सुन;
पकड़ गया है दादा तेरा !
जानें कैसा जुलुम किया है !
थाने में रोता है बैठा !!
दौड़ दौड़ तू, जल्दी जा तू !
मैं जाता हूँ भैंस चराने !!

२८ जुलाई, १९७१

कोयल की तानों के यानों में उड़ने के
दिन आये फागुन के !

आँचल के पल्ले से पगड़ी के मिलने के
हृत्तल पर सुकुमारी चितवन के नर्तन के
चोली के सम्पुट में लय हो के जीने के
दिन आये फागुन के !

२२ फरवरी, १९४१

जीवन

वार बार लगातार
सिगरेट मैं पीता हूँ;
जलती है मेरी आग,
जिन्दा हूँ—मुरदा नहीं !

१३ मार्च, १९४१

लोग बड़े पागल हैं

लोग बड़े पागल हैं !
औरत को देख कर
उसकी सुन्दरता पर मोहित हो जाते हैं,
देवी है—कहते हैं !
लोग बड़े पागल हैं !!

पैरों के पास रख, अपना दिल काट कर
सारे संसार को त्याग कर औरत को पूजते;
लोग बड़े पागल हैं !!

तीर न कमान कुछ
आँखों के तीरों से घायल हो,
वे मौत मरते हैं पाप के गड्ढे में !
लोग बड़े पागल हैं !!

जाने किस भाँति वे
ओठों को चूस कर
अमृत ही अमृत ही बस पीते हैं
लोग बड़े पागल हैं !!

घूरे की घास

घूरे की यह घास
जाने कैसे पानी पा कर
उग आई है जैसे उगते
नीचों की छाती पर बाल।

घूरे की यह घास
छाई है हरियाली ले कर
नीचों की देही में जैसे
छा देता है कौतुक काल।

घूरे की यह घास
काला भैंसा खा जाता है,
जैसे असमय डस जाता है
नीचों को ऊँचों का व्याल।
घूरे पर की घास !

३० जुलाई, १९४१:

देखो स्वाँग अमीरों वाला

देखो स्वाँग अमीरों वाला
मोटे ताजे गद्दे पर वह
बैठा है टेढ़े मुँह वाला
काला है मुँह, सुन्दर कपड़े
डाले है मोती की माला !

देखो स्वाँग अमीरों वाला
बेटा भूतल के कुबेर का
पैदाइस से है धन वाला
क्या जाने वह कैसे आता
पैसा खून पसीने वाला।

देखो स्वाँग अमीरों वाला !!

२ अगस्त, १९४१

घूरे की घास

घूरे की यह घास
जाने कैसे पानी पा कर
उग आई है जैसे उगते
नीचों की छाती पर बाल।

घूरे की यह घास
छाई है हरियाली ले कर
नीचों की देही में जैसे
छा देता है कौतुक काल।

घूरे की यह घास
काला भैंसा खा जाता है,
जैसे असमय डस जाता है
नीचों को ऊँचों का व्याल।
घूरे पर की घास!

३० जुलाई, १९४१

देखो स्वाँग अमीरों वाला

देखो स्वाँग अमीरों वाला
मोटे ताजे गद्दे पर वह
बैठा है टेढ़े मुँह वाला
काला है मुँह, सुन्दर कपड़े
डाले है मोती की माला !

देखो स्वाँग अमीरों वाला
बेटा भूतल के कुबेर का
पैदाइस से है धन वाला
क्या जाने वह कैसे आता
पैसा खून पसीने वाला।

देखो स्वाँग अमीरों वाला !!

३ अगस्त, १६४१

लोग बड़े पागल हैं

लोग बड़े पागल हैं !
औरत को देख कर
उसकी सुन्दरता पर मोहित हो जाते हैं,
देवी है—कहते हैं !
लोग बड़े पागल हैं !!

पैरों के पास रख, अपना दिल काट कर
सारे संसार को त्याग कर औरत को पूजते;
लोग बड़े पागल हैं !!

तीर न कमान कुछ
आँखों के तीरों से घायल हो,
वे मौत मरते हैं पाप के गड्ढे में !
लोग बड़े पागल हैं !!

जाने किस भाँति वे
ओठों को चूस कर
अमृत ही अमृत ही बस पीते हैं जीवन में !
लोग बड़े पागल हैं !!

साड़ी के कम्पन में,
पायल की रुनझुन में,
प्राणों की वीणा के सुनते हैं स्वप्न-गीत !
लोग बड़े पागल हैं !!

कुन्तल खुल जाने पर,
कमरे के भीतर ही—
वे मौसम बादल-दल फौरन ले आते हैं !
लोग बड़े पागल हैं !!

अन्तर की पीड़ा से व्याकुल विरहाकुल हो,
पत्थर पिघलाते हैं निर्जन में;
लोग बड़े पागल हैं !!

घूंघट को खोल कर चाँदनी के
चन्द्र-मुखी चूमते;
घोर आकाशी-व्यभिचार है !
लोग बड़े पागल हैं !!

औरत की देह को सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर
आँखों में बन्द कर स्वप्नों को देखते !
लोग बड़े पागल हैं !!

मरने के बाद भी
अर्द्धांगी पाने की आशा में रहते हैं;
लोग बड़े पागल हैं !!

औरत को औरत ही मान कर,
औरत को प्यार कर,
क्यों नहीं आदमी-से रहते संसार में !!

६ सितम्बर, १९४१

आदि शक्ति मैं;
अजर अमर मैं; परम ब्रह्म मैं;
करण और कारण मैं भव का;
मैं प्रकार, आकार, रूप मैं,
राग, रंग, परिमल, पराग मैं;
तेज, ताप मैं;
स्वर, लय, गति मैं;
पूर्ण, मुक्त, मैं;
महावेग मैं;
चिर-नूतन मैं; चिर अव्यय मैं !
किन्तु···किन्तु···,
मैं नहीं आज सब !
अधिवासी मैं मिट्टी के क्षत-विक्षत घर का !!

लोना खाई
दीमक खाई
दुर्बल निर्बल दीवारों का, मैं अधिवासी !

मेरी पत्नी तम की तिरिया;
मैं हूँ, मेरा चिह्न न कोई;
प्रतिमा का प्रतिबिम्ब न कोई;
मकड़ी मेरा बन्धन बुनती !
मुसटी मेरी आयु कुतरती !!
मैं अधिवासी मिट्टी के क्षत-विक्षत घर का !!

२२ फरवरी, १९४२

कोई गिद्ध

कोई गिद्ध ले उड़े
पंजों में दाब कर दुनिया को,
दूर आकाश से छोड़ दे नीचे को
सत्य के पर्वत की चोटी पर,
जोर से टक्कर खा
भीषण चट्टानों की,
नष्ट हो, चूर हो एक बार !!

२६ फरवरी, १९४२

दूज के चन्द्रमा

देश के बच्चे
सुकुमार दूज के चन्द्रमा
अस्तप्राय वैदेशिक संध्या के राज्य में
कढ़ आए, शोभित असिधार ले, हँसते !

देश के बच्चे
झंडा ले हाथों में
गर्वीली माता की गोदी में
दुश्मन की गोली से प्राण दे देते हैं,
स्वर्ग को जाते हैं,
सच्चे आदर्श हो जाते हैं !
देश के बच्चे !!

२५ अप्रैल, १६४२

यह तो मुरदों की धरती है

हर ओर यहाँ—सब ओर यहाँ
शहरों में, विद्युत—भवनों में
छप्पर के छोटे दरबों में
मुरदे ही मुरदे रहते हैं
······यह तो

मुरदा पुरखों की छायाएँ
पैदा कर मुरदा सन्तानें
मुरदा मिट्टी के जीवन के
मुरदा परिवार बसाए हैं
······यह तो

शासक भी, शोषक भी मुरदा
परजा भी, पीड़ित भी मुरदा
बलहीन बली दोनों मुरदा
ज्ञानी अज्ञानी हैं मुरदा
······यह तो

सुख सम्पति की साँसें मुरदा
आशा की वल्लरियाँ मुरदा
आजादी के सपने मुरदा
जय और पराजय हैं मुरदा
......यह तो

पावन फूलों की मालाएँ,
तन्दुल पूजा की थाली के,
श्रद्धा भक्तों के अन्तर की,
बिल्कुल मुरदा—बिल्कुल मुरदा
......यह तो

नारी का चुम्बन भी मुरदा
नर का आलिंगन भी मुरदा
प्रणयी-प्रणयिनि की छवि मुरदा
सब रूप-प्रेम जग का मुरदा
......यह तो

बलिदानव्रती, कल्याणरती
दृढ चित्त, अजेय, चिरंजीवी
चिरकालिक सत्य सहोदर-सा
वह भी मुरदा—वह भी मुरदा
......यह तो

आकाश-अवनि के अंगों के
मलयानिल के प्रतिरंध्रों के

जल-पावक के मृदु स्पंदन को
सोया खोया मुरदा पाया !
······यह तो

दिनकर अंधा हो कर उगता;
हिमकर अंधा हो कर उगता;
नक्षत्र वुझे से ही रहते;
है ज्योति यहाँ सबकी मुरदा !
······यह तो

रंगीन तितलियों का यौवन
सुरचाप कुमारों का यौवन
सुकुमार कली-कुल का यौवन
क्षण भर में हो जाता मुरदा
······यह तो

विज्ञान वरसता है गोले;
संहार प्रतिक्षण होता है;
यमराज अवनि पर आया है;
हो गई प्रकृति भी अव मुरदा !
······यह तो

चुपचाप, द्रवित हो—व्याकुल हो
मैं आँखों में मुक्ता ढाले,
दिनरात वहाता हूँ धारा;
है अश्रु, हृदय दोनो मुरदा !
······यह तो

२३ मई, १६४२

आदमी और ईश्वर

ईश्वर को आदमी ने जन्म दिया,
ईश्वर ने आदमी को नहीं दिया।
ईश्वर से मतलब क्या आदमी के जन्म से !
आदमी तो जीवन-विकास का प्राणी है !!
ईश्वर तो बाद को आया है;
आदमी ने उसको तो
केवल कौतूहल से
भावना के पिंड से रचाया है।
आदमी ने ईश्वर को रूप दिया;
आदमी ने ईश्वर को बड़ा किया;
आदमी ने ईश्वर को शक्ति दिया;
आदमी ने ईश्वर को ज्योति दिया;
आदमी ने ईश्वर को ज्ञान दिया;
आदमी ने ईश्वर को विश्व दिया;
आदमी ने ईश्वर को कोष दिया;
आदमी ने ईश्वर को आयु दिया;

मेरे रूखे वाल

मेरे सर के रूखे वाल
मेरी रक्षा ही करते हैं !
मेरे सर के वाल !

मैं बेचारा—सर्वस हारा,
धक्का खा कर गिरने वाला,
मिटने वाला, मरने वाला,
आदर्शों के पीछे पीछे
दौड़ा दौड़ा मारा मारा
फिरने वाला,
मैं बेचारा

खून चूसने वाले रण में
जब बेकस घूमा करता हूँ
टूट टूट कर चलने वाली साँस साथ ले
आस साथ ले

नर्क के कीड़े

हाथ तुझसे जोड़ता हूँ
भूख के मारे मरा मैं
द्वार पर तेरे गिरा मैं
एक दाने के लिए मुहताज बस दम तोड़ता हूँ

हाथ तुझसे जोड़ता हूँ
तू जिएगा, मैं मरूँगा
पार भवसागर करूँगा
नर्क के कीड़े तुझे मैं नर्क में ही छोड़ता हूँ

हाथ तुझसे जोड़ता हूँ
मौत मेरी दे संदेसा
हो अमीरी को अँदेसा
आज चलते वक्त तेरी शक्ल से मुँह मोड़ता हूँ
हाथ तुझसे जोड़ता हूँ

२८ जून १९४३

देहाती लड़की

चुलबुल पनघट के ऊपर चढ़
नौजवान देहाती लड़की
हाव भाव की चिकनी सिल पर
रपटी ऐसी, धोती उघरी
नहीं नेवासी कोरी गागर
टुकड़े टुकड़े हो कर टूटी;
गहरे अन्ध पताल कुएँ में
उसकी पूरी देही डूबी ॥

१६ जुलाई, १९४३.

ओसौनी का गीत

साइत आई साइत आई बहय गजब की बैरा
काटी माँड़ी फसल परी है गावौ यारौ सैरा
दौरी साधौ अन्न ओसावौ अउर उड़ावौ पैरा
ताल ठोकि कै मारि भगावौ जेते ऐरा गैरा
अन्न बटोरौ, रासि लगावौ छुइले परबत चोटी
देस भरे के खेतिहर खावौ पेट पेट भर रोटी
साइत आई साइत आई बहय गजब की बैरा
काटी माँड़ी फसल परी है गावौ यारौ सैरा ॥

२ अगस्त, १९४३.

गीत

यदि अम्बुद न बरसते
तो धरती करुणार्द्र न होती; अंकुर कभी न उगते
हरी घास का जन्म न होता, सूने वन पथ रहते
तरुओं में तारुण्य न होता, रूखे सूखे लगते
कलियों की सौन्दर्य भेंट से जन को वंचित रखते;
प्यारे नद भी रजत-रेख हो मरु में खोए रहते
प्यासी आँखों वाले यात्री कभी न पार उतरते;
प्यारे आसमान के तारे कभी न भू पर बसते
लहरों के आँचल से लिपटे जीवन-यापन करते,
दावानल से कुंज कुंज के सारे बाँस झुलसते,
हरे बाँस की वंशी ध्वनि को व्याकुल प्राण कलपते,
नाद और संगीत कला के प्रिय स्वर सोए रहते,
पशुता के पाषाण न कट कर, गल कर, प्रति पल बहते;
काली दुनिया के दीवट के दीपक कभी न मरते,
विद्युत की स्वर्गीय ज्योति छू कभी न पल भर जलते;
अन्न राशि के रूप न मुक्ता भू पर कभी बरसते,
निर्धन के खेतों में जा कर श्रीपति मुदित विहरते

४ अगस्त, १९४३

निरौनी का गीत

खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत
घास बढ़ति है घास बढ़ति है घास बढ़ति है घास
घास बढ़ति है घास बढ़ति है घास बढ़ति है घास
खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत

खेत भरे के धान दबति हैं धान दबति हैं धान
धान दबति हैं धान दबति हैं धान दबति हैं धान
खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत

टेई खुरपी का अजमावौ जोर जमावौ जोर
जोर जमावौ जोर जमावौ जोर जमावौ जोर
खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत

चारा को मूँड़ी से पकरो; चारा खोदौ आज
चारा खोदौ चारा खोदौ चारा खोदौ आज
खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत

बेर करौना बेर करौना बेर करौना बेर
बेर किए पर नाहीं पैहौ सुन्दर सोन सवेर
खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत

खेतिहर भैया ! खेतिहर भैया ! खेतिहर भैया चेत
मूँड़ी काटे देश मिलत है; चारा काटे खेत
खेत निरावौ खेत निरावौ खेत निरावौ खेत

२१ अगस्त, १९४३

आदमी

भरा ठेला खींचता हूँ
खड़े सूखे चने चाबे
रोट मोटा एक खा के
कड़ी कंकड़ की सड़क पर बाहुबल से खींचता हूँ

भरा ठेला खींचता हूँ
हाथ में गट्ठे पड़े हैं
पाँव में ठट्ठे पड़े हैं
और इस पर तर पसीने से अकेला खींचता हूँ

भरा ठेला खींचता हूँ
कर्म की सच्ची लगन है
पेट का ऐसा जतन है
आदमी हूँ आदमी का भार भारी खींचता हूँ
भरा ठेला खींचता हूँ

२८ अक्तूबर, १९४३

नव इतिहास

नित्य नव इतिहास बनता
आज यह कल से नया है
आज से यह कल नया है
रक्त धारा का प्रखर आवेग बन्धन तोड़ बढ़ता

नित्य नव इतिहास बनता
भावनाएँ चूर होती
धारणाएँ चूर होतीं
कामनाओं से निरन्तर आदमी बनता बिगड़ता

नित्य नव इतिहास बनता
चक्र परिवर्तन विचरता
काल से कोई न बचता
आज का संसार कल को नहीं रहता नहीं रहता
नित्य नव इतिहास बनता

२८ अक्टूबर १९४३

लाल मिट्टी

आज मिट्टी लाल दिखती :
कालिमा सब धो गई है
हेय जड़ता खो गई है
रेणु के परिमाणुओं में विकट शोणित-ज्वाल जलती

आज मिट्टी लाल दिखती
श्वेत हैं शशि, श्वेत तारे;
श्वेत हैं हिम शृंग सारे
क्यों नहीं इनमें किसी में यह अरुण मधु-ज्वाल मिलती

आज मिट्टी लाल दिखती
नारि नर ने प्राण वारे
हैं अमर बलिदान प्यारे
दूध में माँ के समाई देश की नव लाज जमती
आज मिट्टी लाल दिखती

२८ अक्टूबर, १६४३

यही धर्म है

यही ध्येय है—यही धर्म है !!
मैं हिम्मत से शीश उठाऊँ,
परवशता को रौंद भगाऊँ;
नत मस्तक जीते रहने में बहुत शर्म है, बहुत शर्म है !!

यही ध्येय है—यही धर्म है !
मैं लोहू में आग लगा दूँ,
लाल लपट का प्रात जगा दूँ,
नौजवान होने के नाते मेरा पहला यही मर्म है !!

यही ध्येय है—यही धर्म है !
यदि मरने का अवसर आए
मत विचलित हो मन घबराए
हर गुलाम का चौड़ा सीना दमित देश का अमर वर्म है !!
यही ध्येय है—यही धर्म है।

२८ अक्तूबर, १९४३

ऐसा तन है

ऐसा तन है
छोटा है दुबला पतला है
मिट्टी का कच्चा पुतला है
लेकिन पौरुष का अजेय यह सिंह सदन है

ऐसा तन है
विद्युत की अगणित धाराएँ
शत सहस्र जागृत ज्वालाएँ
नित इसके अणु अणु में करतीं नव नर्तन हैं

ऐसा तन है
खून खौलता लौह पिघलता
लावा जैसे धावित रहता
महाक्रान्ति की इसकी गति में अति जीवन है

ऐसा तन है
उच्च हिमालय का गौरव है
हिन्द महासागर का रव है
रोम रोम में आजादी की प्रिय कम्पन है
ऐसा तन है।

२८ अक्टूबर, १६४३

बाप बेटा बेचता है

बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल हो कर,
धर्म, धीरज, प्राण खो कर,
हो रही अनरीति बर्बर राष्ट्र सारा देखता है।

बाप बेटा बेचता है,
माँ अचेतन हो रही है,
मूर्छना में रो रही है,
दाम के निर्मम चरण पर प्रेम माथा टेकता है।

बाप बेटा बेचता है,
शर्म से आँखें न उठतीं,
रोष से छाती धधकती,
और अपनी दासता का शूल उर को छेदता है
बाप बेटा बेचता है।

सन् १८४३ ई०

बोतल के टुकड़े

बोतल के टुकड़े गड़ते हैं
घर आँगन में
जहाँ हृदय के मनहर नटवर
अपनी मीठी बाँसुरिया पर
तान छेड़ आह्लादित होकर
विस्मृति में नाचा करते हैं

बोतल के टुकड़े गड़ते हैं
पुष्प-सेज पर
जहाँ स्वप्न की सुन्दर रानी
नव वसन्त का यौवन लेकर
रूप प्रेम मधु गन्ध पिला कर
बार बार हियहार बनी बलि बलि जाती है

बोतल के टुकड़े गड़ते हैं
अन्तस्तल में

जहाँ भावनाओं की आँखें
खिलीं जलज-सी, सूर्योदय का---
विपुल आत्मा के प्रकाश का
मुग्ध मधुर चुम्बन करती हैं

बोतल के टुकड़े गड़ते हैं
जीवन-पथ पर
जहाँ पेट के बल धरती पर
कड़ी मार कोड़ों की खा कर
अन्धकार में सारी जनता
त्राहि त्राहि रेंगा करती है।

सन् १९४३ ई०

नयी जवानी

नयी जवानी कर मनमानी
युग युग बीते आहत होते;
जकड़े रह कर रोने-धोते
आज सुना दे अपने मुख से नये राष्ट्र की शोणित वाणी।

नयी जवानी कर मनमानी
चितवन की विद्युत चमका दे
यहाँ वहाँ सब कहीं गिरा दे,
विशकोटि आजादी माँगे बन्धन बने विमूढ कहानी।

नयी जवानी कर मनमानी
बड़े भाग्य से तू आई है,
शुभ साइत भी संग लाई है,
हाथ बढ़ा, कर चूम खड़ी हो जनसत्ता कातर अज्ञानी।
नयी जवानी कर मनमानी······

सन् १९४३ ई०

कलकत्ते की दशा

अब कलकत्ते में जीने की जगह नहीं है!
फुटपाथों पर सोने वाले :
जो गरीब हैं
जो अमीर के जूतों के नीचे कुचले हैं,
भूखे हैं जो निराहार हैं
कई दिनों से निश्चेतन हैं
ठौर ठौर पर मरे पड़े हैं
अब कलकत्ते में जीने की जगह नहीं है !!

जिन्दा हैं जो :
हत्यारे हैं—पूंजीपति हैं,
नफाखोर हैं,
गिरोहों के जायज वारिस हैं,
बहुत क्रूर हैं,
मानवता से बहुत दूर हैं।
अब कलकत्ते में जीने की जगह नहीं है !!

सड़ी लाश बदबू करती हैं ;
नाक और नथुने सड़ते हैं,
साँस फेफड़े नही खींचते,
दृश्य देख कर आँखें झिपतीं हैं,
जी घबराता,
खून दौड़ता हुआ ठिठक कर थम जाता है,
प्राणों की सारी चेतनता खो जाती है ;
अब कलकत्ते में जीने की जगह नहीं है !

बच्चों का क्रय विक्रय होता
वेश्यायें कन्यायें लेतीं
पिता पुत्र की हत्या करता
बहुओं की साड़ी खिंचती हैं
सारी सामाजिक मर्यादा चूर चूर है
न्याय नहीं हैं,
अन्यायी का सर ऊँचा है ;
अन्न वस्त्र के धनी डकैतों की चाँदी है ;
राज्य-व्यवस्था का अभाव है ;
मृत्यु-काल है !
अब कलकत्ते में जीने की जगह नही है !!

सन् १९४३ ई०

प्रहरी

हम रक्षक हैं हम प्रहरी हैं
ढहते घर के, उस नारी के
जिसकी छाती औ जाघों से
हम बिलकुल सट कर चिपके हैं ;
हम रक्षक हैं उस समाज के
जो अंधा लँगड़ा लूला है।
हम प्रहरी हैं उस ईश्वर के
जो बहरा, गूँगा, मुरदा है।
हम रक्षक हैं हम प्रहरी हैं
किन्तु हिमालय और सिंधु को
गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र को
खनिज खाद्य को अन्न वस्त्र को
भारत की प्यारी धरती को
प्राणों की कुरबानी करके
एक बार भी हत्यारों से
वापिस लेने में अशक्त हैं।
हम रक्षक हैं हम प्रहरी हैं !!

सन् १९७३ ई०

टामी

सूनी सड़कों पर यहाँ वहाँ
दायें बायें जो घने पेड़
रोमांटिक छाया डाले हैं
टामी को बेहद भाते हैं

उसके जीवन का बीज यहीं
अज्ञात पिता ने बोया था
टामी भी बारम्बार यहीं
अपना पितृत्व जगाता है

नित एक न एक नई युवती
वह फाँस फाँस कर लाता है
टामी सन्तति का बीज नया
फिर आलिङ्गन में बोता है

टामी फौजी वर्दी पहने
युद्ध-स्थल में तो सैनिक हैं
लेकिन रोमांटिक छाया में
टामी कुत्तों-सा कामी है

सन् १९४३ ई०

आज़ाद ख़ून

आज़ाद ख़ून के दौरे से
धमनी धारा हो बहती है;
हरदम पहाड़ से लड़ती है;
चट्टान तोड़ती बढ़ती है;
निर्भय दहाड़ती रहती है!

आज़ाद ख़ून की ताक़त से
हड्डी लोहा हो जाती है,
चोटें पर चोटें खाती है—
आपस में कूटी जाती है,
पर नहीं टूटने आती है!

आज़ाद ख़ून की गरमी से
ठंडा लोहा गरमाता है
गरमी पाकर तन जाता है,
फिर नहीं झुकाया जाता है—
ठंडा अग्नि हो जाता है!

आजाद खून की साँसों से
मुरदा बस्ती जो उठती है,
चौड़ी छाती में हँसती है,
फिर नहीं ढहाये ढहती है,
फिर नहीं मिटाये मिटती है !

आजाद खून के गौरव से
जीवन से दुख मिट जाता है,
प्राणों से भय हट जाता है,
निर्भीक हृदय हो जाता है,
मस्तक ऊँचा हो जाता है।

सन् १९४३ ई०

काले फमंठ

काले फमंठ कमठ हाड़ के
कलानिक के बिल्लधारी
कई करोड़ों की संख्या में
फौलादी पंजे फैले हैं
मिल मालिक में भूपतियों में
दल के दल दुष्टों दैत्यों में
आर्थिक शोषण के गुण्डों में
फौलादी पंजे गड़ते हैं
खुद सोखते हुये खून की
लम्बी लपटों की गंगा में
होम हवन पृथ्वी के ऊपर
फौलादी पंजे करते हैं
पूरब में पश्चिम प्रदेश में
दक्षिण भारत के त्रिकोण में
अनंगुष्ट फौलादी पंजे
अधिकारों का निर्णय करते

५.१ १९५१ ई०

घंटा

श्रमजीवी का सच्चा साथी
पुष्ट धातु का तगड़ा घंटा
साँझ सवेरे चौबिस घंटे
घन्नाता है टन्नाता है

मूढ़ अचेतन मानवता के
स्वामी के सर के ऊपर ही
गला फाड़ कर पूरे स्वर से
घनन घनन घन चिल्लाता है

नीचे नीचे नीचे उतरो
सिंहासन से नीचे उतरो
देखो नंगी भूखी रोती
व्याकुल मरती खपती जनता

सन् १९४३ ई०

जनता

अत्याचारों के होने से,
लोहू के बहने चुसने से,
बोटी बोटी नुच जाने से,
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है !

मुरदा होकर भी जीती है
बंदी रह कर भी उठती है
साँसों साँसों पर उड़ती है
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है !

सब देशों में सब राष्ट्रों में
शासक ही शासक मरते हैं
शोषक ही शोषक मरते हैं
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है !

जनता सत्यों की भार्या है,
जागृत जीवन की जननी है;
महामही की महाशक्ति है!
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है!

६ मार्च, १९४५

रात

मैंने देखा
लम्बी रात
मेरे दरवाजे के पास
काला कम्बल ओढ़े आई;
वह रोती है,
लम्बे काले बाल
चुचुआते हैं;
तन भीगा है;
बेबोले ही,
कँपते कँपते हाथ बढ़ाये,
माँग रही है जलती ज्वाल
पौ फटने की!!

१० मार्च १९४५

कवि जी

कवि जी कर में सोटा थामें
छोटी सी कूँड़ी में डाले
अन्दर ही अन्दर कमरे में
बैठे अपनी भाँग घोंटते

बूटी के गोले को खाके
सावन के दिन की हरियाली
कवि जी के मन में कमरे में
पूरी पूरी छा जाती है

सूने एकाकी जीवन की—
ड्योढ़ी के बाहर आने में
मद के माते बुद्धू कवि जो
अंधे जैसे घबराते हैं।

६ फरवरी १९४६

बन्दी नेता को पत्र

बन्दीगृह में शोकमग्न हो,
यह न सोचना प्यारे नेता
तुम्हें तुम्हारे भारत-भाई
कोटि कोटि जन भूल गये हैं।

नहीं नही यह असत् बात है !
चौके में रोटी खाते में,
कौर कौर के साथ तुम्हारी,
सुधि आती है—रो पड़ते हैं !

चिन्ताओं में गहरे डूबे,
सुख की नींद नही सोते है।
तुम्हें देखने की इच्छा से,
दिन पहाड़ से काट रहे है !

बन्दी नेता ! यह सच जानो,
अब तक प्रेम वही है तुमसे;
उसमें कोई कमी नहीं है;
आगे भी वह न्यून न होगा।

१० मई, १६४६

नेताओं से

ऊँचे पहाड़ फूंकती हवा,
गहरे समुद्र सोखती हवा,
धरणी का पेट औटती हवा,
तुम आ गये बदल गयी हवा !!

बादल के नाग नाथती हवा,
चिड़ियों के पंख काटती हवा,
बरबादियों की बावली हवा,
तुम आ गये बदल गयी हवा !!

नदियों की बाढ़ रोकती हवा,
झरनों की राह रोकती हवा,
जीवन की रीढ़ तोड़ती हवा,
तुम आ गये बदल गयी हवा !!

अब साधुवाद की बहे हवा,
अब साम्यवाद की बहे हवा,
अब इन्कलाब की बहे हवा,
तुम आ गये थिरक रही हवा !!

८ अगस्त, १९४९

जहरी

पैदा हुई गरीबी में,
पाली गई गरीबी में !
व्याही गई गरीबी में,
माता हुई गरीबी में !!

हँसिया लिया गरीबी में,
खुरपी गही गरीबी में !
काटी घास गरीबी में,
छीली घास गरीबी में !!

खाती रही गरीबी से,
जीती रही गरीबी से;
सब दिन पिसी गरीबी से,
सब दिन लड़ी गरीबी से !!

बुड्ढी हुई गरीबी से,
टूटी रीढ़ गरीबी से !
आँधी उठी गरीबी से,
दीपक बुझा गरीबी से !!

जरूरी गयी, गरीबी है !
अब भी वही गरीबी है !!
चिन्तामयी गरीबी है !
नही मिटी है, नहीं मिटी !!

८ अगस्त, १९४६

कपड़े के अकाल में

रोम रोम को निहार
निरावरण, वस्त्रहीन,
ललनायें कहती हैं
बार बार धैर्य हार—
मीन बनें, गहें नीर,
सागर में समा जायँ;
धरा फटे, पैठ जायँ;
किसी तरह बचे लाज !

१२ अगस्त १९४६

फाँसी का बन्दी

बन्दीगृह में आने से पहले तो मैं इन्सान था
मनु जी का प्यारा बेटा था मुझको अति अभिमान था
मुझको मेरी आजादी का पूरा पूरा ज्ञान था
मुझको मेरी लाचारी का कोई नहीं गुमान था

जब भूखा होता था फौरन छतियाता बन्दूक था
पक्षी मार गिराता था मै मेरा वार अचूक था
हिंसक से हिंसक पशुओं का मैं करता आखेट था
पेड़ तले मैं आग जलाये भरता अपना पेट था

थर्राने वाला पृथ्वी को नभ को मेरा नाद था
उससे बढ़ कर काले बादल का भी नही निनाद था
मेरे आगे तूफानों का झंझा सब बेकार था
मेरी ताकते ही ताकत का फैला यश विस्तार था

अब बन्दी घर में रहता हूँ मेरा अन्तिम काल है
अब मेरे जीवन में कोई आता नहीं उबाल है
अब मेरे जीते रहने का कोई नहीं सवाल है
ऊँची दीवारों का घेरा घेरे अति विकराल है

अब प्यारी की नहीं कल्पना आज मृत्यु का ध्यान है
अब प्यारी की नहीं तृषा है आज गरल का पान है
अब प्यारी की नहीं प्रतीक्षा आज मृत्यु का राज है
आज बटोही के चलने के विदा समय का साज है

५ सितम्बर, १९४९

जागरण की कामना

रात
    लम्बी है
        अँधेरा घना रहा है
            भूमि-नभ का
            दीप-तारा रो रहा है

आदमी भी
हाथ बाँधे
    सो रहा है
        स्वप्न
            आँखों में
        तड़पता खो रहा है
        भोर होवे
        भोर होवे—
            हो रहा है

२० सितम्बर, १९४९

गीत

हम उजाला जगमगाना चाहते हैं
अब अँधेरे को हटाना चाहते हैं

हम मरे दिल को जिलाना चाहते हैं
हम गिरे सिर को उठाना चाहते हैं

बेसुरा स्वर हम मिलाना चाहते हैं
ताल-तुक पर गान गाना चाहते हैं

हम सबों को सम बनाना चाहते हैं
अब बराबर पर बिठाना चाहते हैं

हम उन्हें धरती दिलाना चाहते हैं
जो वहाँ सोना उगाना चाहते हैं

२८ सितम्बर, १९४६

दुखते,
काँपते
दोनों हाथों
बाग लगाओ कल्प वृक्ष के।

निश्चय आयेगी वसन्त-रितु,
धरती की छाती फूलेगी !
मानव की संस्कृति महँकेगी,
फल लायेगी !!

४ अक्टूबर १९४६

मोती और टामी

पानी पानी पानी बरसा
पानी बरसा जोर से
हिम है बरसा हिम है बरसा
हिम है बरसा जोर से
सरदी सरदी सरदी सरदी
सरदी ही चहुँ ओर है
मारे सरदी के अब गलता
अँगुली का हर पोर है

ठंडक में बेचारा मोती
थर थर थर है काँपता
जैसे हिम के ऊपर चूहा
थर थर थर है काँपता
हड्डी पसली में जाड़ा है
तन में मन में शीत है
मोती आफत का मारा है
सरदी से भयभीत है

दोनों तलुवों में ठिठुरन है
ठिठुरन है हर अंग में
ओठों में स्याही छाई है
और सफेदी रंग में
नाक हिमानी मेरु-गुफा है
कान हिमानी पात हैं
शीश हिमालय सा शीतल है
हाथ बरफ को मात हैं

घर होता तो घर में छिपता
लेकिन बेघर-बार है
दीवारों का ऊँचा घेरा
उसको स्वप्न विचार है
जिन्दा रहने के खातिर ही
टामी के सँग-साथ में
टामी को दिल से लिपटाये
लेटा है फुटपाथ में

पैसे वाले पूंजी वाले
सब जन घर में बंद हैं
ऊनी कपड़े पहने खुश हैं
उनको बहु आनंद हैं
दीवारों की गरमाहट को
उनके घर में आग है
दौड़ाने को तन में गरमी
बोतल भरी शराब है

सुन्दरियों के आलिंगन में
उनकी प्रमुदित देह है
उनके शोणित में उफनाता
कामिनियों का नेह है
लेकिन टामी के साथी की
मोती की जो बात है
उसको सुनना उसको गुनना
आँसू की बरसात है

मोती मुरदा मात पिता की
लावारिस संतान है
उसके जीवन में अँधियारा
बरफीला तूफान है
बाहर की सरदी से ज्यादा
भीतर, हिम-सन्ताप है
उसको जीते रहने मरते-
रहने का अभिशाप है

बेचारा खाने को तरसा
टुकड़े टुकड़े माँग के
बेचारा पैसों को तरसा
टुकड़े टुकड़े माँग के
होगी उसकी आयु बहुत तो
होगी तेरह साल की
लेकिन उसने पीड़ा पाई
सौ सौ काल कराल की

मोती ने तेरह सालों में
तेरह सदियाँ देख लीं
आफत की तेरह सदियों की
सब सब घड़ियाँ देख लीं
सूरज के उगते आते ही
उसका होता खून था
सूरज के ढलते जाते ही
उसका होता खून था

लेकिन मोती मरते मरते
जी जाने में वीर था
लड़ते लड़ते गिर जाने पर
उठ आने में वीर था
टकराने में बिछ जाने में
मुसकाने में वीर था
सागर-तल में डूबा रह कर
उतराने में वीर था

मोती माने है : सरदी में
अब की हिम' बरसात में
निःसंशय वह बच जायेगा
मौत न होगी रात में
दिन होते ही दहकायेगा
तन को रवि के राग में
हिम की सरदी को मेटेगा
फौरन रवि की आग में

पर टामी ने देखा मोती

मरणाकुल वेहाल है

मोती की अन्तिम साँसों में

वैठा काल कराल है

वेचारा टामी कातर हो

रोया आँसू शोक में

अपने साथी को जब उसने

मरते देखा लोक में

भिसारे जब दिनकर दहका

दहकी धूप अपार की

ठंडक की जड़ता सव पिघली

धरती के विस्तार की

भंगी ने आ टामी को फिर

मारे डंडे तान के

प्रिय साथी की देह घसीटी

लकड़ी जैसी जान के

टामी भौका पीछे दौड़ा

दूर गया उस ओर से

मरघट में भी जा कर रोया

दोनों लोचन कोर से

फिर वेचारा राख लपेटे

मोती [illegible] देह की

लौटा धीरे धीरे रोता

गुनत [illegible] की

जाने कितने दिन बीते हैं
फिर भी बात नवीन है
पतझर के पत्तों सी तो वह
होती नहीं मलीन है
मोती के जीवन की गाथा
दारुण करुणा गीत है
उसमें टामी के जीवन की
झनकारित मधु प्रीत है।

१५ अक्टूबर, १९४६

सीता मैया

जनकपुरी की पैदाइस है,
अवधपुरी में आई है।
जनका ठाकुर की बेटी है,
रमचन्दा को ब्याही है॥

सोना, चाँदी, मोती, मूंगा,
गहना जेवर नहीं मिला।
सीना, कान, गला सूना है;
पग, पहुँचा सब सूना है॥

चीकट, गंदी, निरी उटंगी
चिथड़ा धोती लिपटी है।
हड्डी, पसली, चमड़ी, पिंडुली,
दुनिया भर को दिखती है॥
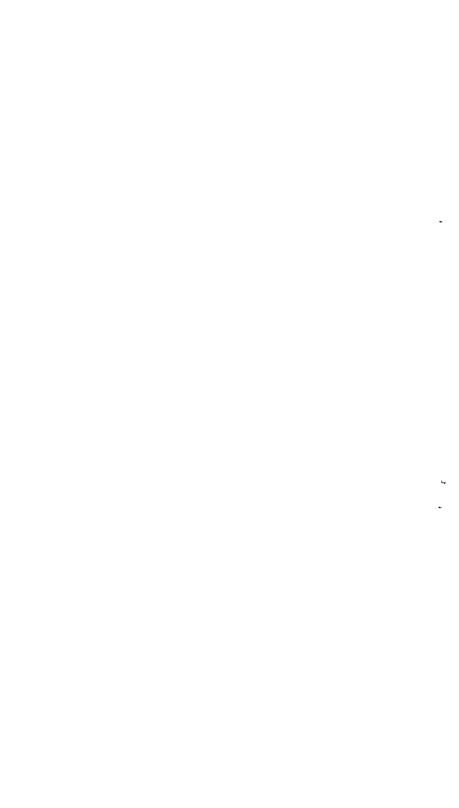
कुली

जो कुली पीठ पर बोझ लिये चलता है
हाड़ों पर अपने भार लिये चलता है
कंकड़ पत्थर रोड़ों पर पग धरता है
हरदम आगे ही आगे को बढ़ता है
चलते चलते तलुवे एड़ी घिसता है
रुकने टिकने को जो मरना कहता है
लम्बे पथ की पूरी दूरी हरता है
सूरज की किरनों में तपता तचता है
श्रमजल में जो डूबा डूबा रहता है
आँखें खोले बेहद अंधा रहता है
मुँह खोले भी बेहद गूंगा रहता है
वह राही की यात्रा हलकी करता है
वह खोटी दुनिया मे बरबस बिकता है
कम दामों में—कम आनों में पिसता है
जब तक जीता है तिल तिल कर घिसता है
शोषक के पैरों के नीचे मिटता है

२५ जुलाई, १९४७

खेतिहर

अबकी धान बहुत उपजा है
पेड़ इकहरे दुगुन गये हैं
धरती पर लद गयी फसल है
रत्ती भर अब जगह नहीं है
खेत काटने की इच्छा से
खेतिहर प्रिय जन साथ समेटे
काछा मारे—देह उघारे
आ धमका है आज सवेरे
सबके हाथों में हँसिया है
सबकी बाँहों मे ताकत है
जल्दी जल्दी साँसें लेते
सब जन मन से काट रहे हैं
एक लगन से, एक ध्येय से
जीवन का श्रम सफल हुआ है
जिन्दा दिल हो कर उठने को
खाने को भरपूर मिला है

२४ जुलाई, १९४७

कुली

जो कुली पीठ पर बोझ लिये चलता है
हाड़ों पर अपने भार लिये चलता है
कंकड़ पत्थर रोड़ों पर पग धरता है
हरदम आगे ही आगे को बढ़ता है
चलते चलते तलुवे एड़ी घिसता है
रुकने टिकने को जो मरना कहता है
लम्बे पथ की पूरी दूरी हरता है
सूरज की किरनों में तपता तचता है
श्रमजल में जो डूबा डूबा रहता है
आँखें खोले बेहद अंधा रहता है
मुँह खोले भी बेहद गूंगा रहता है
वह राही की यात्रा हलकी करता है
वह खोटी दुनिया में बरबस बिकता है
कम दामों में—कम आनों में पिसता है
जब तक जीता है तिल तिल कर घिसता है
शोषक के पैरों के नीचे मिटता है

२५ जुलाई, १९४७

इकाई और समाज

एक राम के तीक्ष्ण बाण से,
ध्वंस हुआ,
हो गया पराजित
सोने की लंका का रावण
लंकापति चंचल, मोहातुर, काम-अंध था
परम सुन्दरी सीता के हित वह व्याकुल था।

जनक यज्ञ में नहीं मिली थी,
इसी हेतु मृग-छलना द्वारा,
वह सीता को हर लाया था
तृप्ति चाहता था अतृप्त कन्दर्प-वृत्ति की !!

आयोध्यापति बनवासी थे !
अपनी पत्नी के विछोह में,
काम-नीति को धर्म-रूप दे सदाचार का,
वीर वानरों में समाज-हित की रक्षा के
नव विचार का बार बार अतिशय प्रचार कर,

सब को अपना मित्र बना कर,
पूर्ति चाहते थे सब के बल पर अपनी ही काम-नीति को
और नहीं उद्देश्य अन्य था किसी तरह का
दोनों का वह युद्ध वासना की अतृप्ति का महासमर था !

किन्तु आज युग बदल गया है !
नहीं राम हैं और न रावण !

२६ जुलाई, १६४७

देवतों की नींद

धूप चाँदी सी चमकती ही रही
धूल मोती सी दमकती ही रही
श्वेत गंगा-धार बहती ही रही
अन्न धरती भी उगलती ही रही
किन्तु जनता की अमानिशि ही रही
भूख से मरती तड़पती ही रही
मृत्यु की करवाल चलती ही रही
देवतों की फौज सोती ही रही

२८ जुलाई, १६४७

कमकर

कमकर,
रो कर—हाथ जोड़ कर,
पाँव प[illegible]
दया-भीख से
नहीं कमाते अपनी रोट.

वह दिन भर
मेहनत करते हैं;
पत्थर लोहे से लड़ते है,
लड़ते लड़ते घिस जाते हैं,
घिसते घिसते मिट जाते हैं,
तब पाते हैं
अपनी रोटी, अपना चिथड़ा,
अपना दरबा !

उनके शोपक पूँजीपति है,
जो उनकी मेहनत की पूँजी,

अपने बैंकों में धरते हैं;
जो उनके पौरुष-प्रतिभा को
जल्दी जल्दी चर जाते हैं,
मोटे होकर इतराते हैं,
और उन्हें मुरदा करते हैं!

पर
अब युग ने पलटा खाया
उनमें बल लड़ने का आया
वह
शोषण से युद्ध ठानते
थैलीशाहों को पछाड़ते
माँगों को स्वीकार कराते
चेत गये हैं कमकर सारे
साम्यवाद की अर्थ नीति से
राजनीति को जीत रहे हैं!!

८ अक्टूबर, १९४७

कमकर

कमकर,
रो कर—हाथ जोड़ कर,
पाँव पूज कर,
दया-भीख से
नहीं कमाते अपनी रोटी।

वह दिन भर
मेहनत करते हैं;
पत्थर लोहे से लड़ते है,
लड़ते लड़ते घिस जाते हैं,
घिसते घिसते मिट जाते हैं,
तब पाते हैं
अपनी रोटी, अपना चिथड़ा,
अपना दरबा!

उनके शोषक पूँजीपति हैं,
जो उनकी मेहनत की पूँजी,

अपने बैंकों में धरते हैं;
जो उनके पौरुष-प्रतिभा को
जल्दी जल्दी चर जाते हैं,
मोटे होकर इतराते हैं,
और उन्हें मुरदा करते हैं!

पर
अब युग ने पलटा खाया
उनमें बल लड़ने का आया
वह
शोषण से युद्ध ठानते
थैलीशाहों को पछाड़ते
माँगों को स्वीकार कराते
चेत गये हैं कमकर सारे
साम्यवाद की अर्थ नीति से
राजनीति को जीत रहे हैं!!

८ अक्टूबर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो लाल गुलाब खिला है,
खिला करेगा
यह जो रूप अपार हँसा है,
हँसा करेगा
यह जो प्रेम-पराग उड़ा है,
उड़ा करेगा
धरती का उर रूप-प्रेम-मधु,
पिया करेगा ।

५ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो दीप जला करता है,
जला करेगा
अँधियारा हरता रहता है,
हरा करेगा
उजियारा भरता रहता है,
भरा करेगा
धरती में स्वर्गिक छवि-शोभा,
दिया करेगा ।

५ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो आलिंगन होता है,
हुआ करेगा
यह जो प्यार-पुलक खिलता है,
खिला करेगा
यह जो अधरामृत झरता है,
झरा करेगा
धरती में वासंतिक उत्सव,
हुआ करेगा।

५ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो गान हुआ करता है,
हुआ करेगा
भू-नभ-छोर छुआ करता है,
छुआ करेगा
हृदयालोड़ित नित करता है,
किया करेगा
धरती की प्रत्येक साँस में,
बजा करेगा ।

६ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो सागर लहराता है,
लहरायेगा
मिलनातुर विरही पुलिनों पर,
हहरायेगा
मोती-आँसू की नव निधियाँ,
बिखरायेगा
धरती को आलिंगन करने,
बढ़ आयेगा।

६ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो अंकुर उग आये हैं,
बढ़ जायेंगे
आँधी औ तूफान नही कुछ,
कर पाएँगे
निष्ठुर से निष्ठुर उन्मूलन,
सह जायेंगे
धरती के उर में फूलेंगे,
फल लायेंगे !

६ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो दीवारें घेरे हैं,
ढह जायेंगी
यह जो सीमायें रोके हैं,
मिट जायेंगी
यह जो आत्मायें बंदी हैं,
खुल जायेंगी
धरती की उन्मुक्त दिशाएँ,
मुसकायेंगी ।

६ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो चौड़ी चट्टानें हैं,
घिस जायेंगी
पैरों की ठोकर के नीचे,
पिस जायेंगी
गंगा की उर्वर मिट्टी हो,
बह आयेंगी
धरती की उत्तम खेती को,
उपजायेंगी !

६ नवम्बर, १९७३

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
काले काले छाये बादल,
उड़ जायेंगे
गाँवों खेतों मैदानों को,
तज जायेंगे
शंका संकट के दिन भारी
कट जायेंगे,
धरती की कंचन काया को,
चमकायेंगे ।

७ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो नाग उठे हैं काले,
फन काढ़ेंगे
चौतरफा से आगे बढ़ कर,
फुफकारेंगे
जहरीले घातक दंशन से,
अरि मारेंगे
थैलीशाहो की केंचुल को,
अब त्यागेंगे।

७ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

है मेरी तुम !
काले काले छाये बादल,
उड़ जायेंगे
गाँवों खेतों मैदानों को,
तज जायेंगे
शंका संकट के दिन भारी
कट जायेंगे,
धरती की कंचन काया को,
चमकायेंगे ।

७ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो नाग उठे हैं काले,
फन काढ़ेंगे
चौतरफा से आगे बढ़ कर,
फुफकारेंगे
जहरीले घातक दंशन से,
अरि मारेंगे
थैलीशाहो की केंचुल को,
अब त्यागेंगे।

७ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो आशा का उपवन है,
हरियायेगा
श्यामल कोमल पल्लव-दल से,
लहरायेगा
सुन्दर से सुन्दर पुष्पों को,
महकायेगा
धरती में मंगल जीवन के,
फल लायेगा।

७ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो आँसू के सागर हैं,
लहरायेंगे
पीड़ा की अन्तर-ध्वनियों में,
हहरायेंगे
प्रेमालिंगन की क्रीड़ा में,
अकुलायेंगे
धरती के मन्दों फूलों में,
टकरायेंगे ।

७ नवम्बर, १९६७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो स्वप्नों की छवियाँ हैं,
मिट जायेंगी
सुन्दर से सुन्दर आकृतियाँ,
छिप जायेंगी
पल प्रति पल यह प्रेमी आँखें,
अकुलायेंगी
भग्न मूर्तियों के चरणों में,
मँडरायेंगी।

७ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो खंडित स्वप्न-मूर्ति है,
मुसकायेगी।
रस के निर्झर, मधु की वर्षा,
बरसायेगी।
जीवन का संगीत सुना कर,
इठलायेगी।
धरती के ओठों में चुम्बन,
भर जायेगी।

७ नवम्बर, १९४२

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो नृत्यातुर बालाएँ,
मदमाती हैं
मेरे मन के रंगस्थल में,
नच जाती हैं
मुझको तज कर जो मिट्टी में,
मिल जाती हैं
कुंजों में ही कलियाँ हो कर,
खिल जाती हैं।

८ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो सुन्दरता सजती है,
मुसकाती है
मेरे मन के प्रेमालय में,
बस जाती है
मेरा बुझता जीवन दीपक,
उकसाता है
धरती की आँखों में आभा,
भर जाती है।

८ नवम्बर १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो नृत्यातुर बालाएँ,
मदमाती हैं
मेरे मन के रंगस्थल में,
नच जाती हैं
मुझको तज कर जो मिट्टी में,
मिल जाती हैं
कुंजों में ही कलियाँ हो कर,
खिल आती हैं।

८ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो सुन्दरता सजती है,
मुसकाती है
मेरे मन के प्रेमालय में,
बस जाती है
मेरा बुझता जीवन दीपक,
उकसाती है
धरती की आँखों में आभा,
भर जाती है।

८ नवम्बर १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो अंगारे जलते हैं,
बुझ जाते है
अपनी आभा से तड़पा कर,
मर जाते है
वन के वन जिनकी ज्वाला से,
जल जाते हैं
धरती के पावन बलिदानी,
कहलाते है।

८ नवम्बर, १९४७

है मेरी तुम

है मेरी तुम !
यह जो कौआ मोर बना है,
इतराता है
कौओं के सँग में रहने से,
घबराता है
मोरो के सँग में रहने से,
सुख पाता है
धरती में अपयश का भागी
कहलाता है।

६ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
अंधकार के उर में लाखों,
दीप जले हैं
उन दीपों से चिर आलोकित,
स्वप्न हुए हैं
उन स्वप्नों से चिर आभासित,
सत्य हुए हैं
उन सत्यों से ही धरती में,
कृत्य हुए हैं।

१० नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो दीपक आज जले हैं,
तम के घर में
भूख प्यास आँसू अभाव के,
क्षुब्ध उदर में
भग्न मूर्तियों के विदीर्ण,
आहत अन्तर में
जीवन प्राण प्रकाश भरेंगे,
भव अम्बर में।

११ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो आज समीर प्रकम्पित,
प्रवहमान है
क्षिति-छोरों अम्बर-कोरों में,
प्राणवान है
अश्रुधार विगलित प्रपात-सा,
मूर्तिमान है
धरती की व्याकुल वीणा का,
करुण गान है।

१२ नवम्बर, १९४७.

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
काली मिट्टी हल से जोतो,
बीज खिलाओ
खून पसीना पानी सींचो,
प्यास बुझाओ
महाशक्ति की नमीं फसल का,
अन्न उगाओ
धरती के जीवन-सत्ता की,
भूख मिटाओ।

१२ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
दीपदान की ज्योति हमारी,
तम को छूले
पंचतत्व अब स्वर्ग-लोक की,
प्रतिमा छू ले
घृणा तत्व अब कभी न तम का,
झूला झूले
भूमि-पुत्र ,के प्रेम-तत्व से,
धरती फूले ।

१२ नवम्बर, १६४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो प्रात समीर किरन से,
भूमि जोतता
अरुणोदय के अमर बीज बो,
रक्त सींचता
कोटि कोटि अंकुर उपजा कर,
सैन्य साजता
प्रतिगामी जीवन-विरोध का,
युद्ध जीतता

१४ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह समीर जो रूप-कुंज का,
मधुपायी है
रूप-राग का रूप-धर्म का,
अनुयायी है
दास-वृत्ति उसने मुकुलों की,
अपनायी है
चितवन के बंदी होने में,
गति पायी है।

१३ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह जो प्रात समीर किरन से,
भूमि जोतता
अरुणोदय के अमर बीज बो,
रक्त सींचता
कोटि कोटि अंकुर उपजा कर,
सैन्य साजता
प्रतिगामी जीवन-विरोध का,
युद्ध जीतता

१४ नवम्बर, १९४७

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह समीर जो महामेरु से,
टकराता है
बादल बिजली और प्रलय से,
लड़ जाता है
बाड़वाग्नि से जल-थल-अम्बर,
दहकाता है
जन-सेना के विजय-केतु को,
फहराता है।

१४ नवम्बर, १९४७

प्रात का सूरज

शाम का सूरज नहीं है—प्रात का है,
चीर प्राची का कलेजा उठ रहा है।

रात का भीगा धरातल आँसुओं से,
चूम कर किरनें सुनहली हँस रहा है।

दीप जो जलता रहा था, मिट रहा था,
आज उसका ही उजाला बढ़ रहा है!

खेत में जो अन्न कच्चा ही खड़ा था,
आज कंचन सा मधुर वह पक रहा है।

२६ दिसम्बर, १९४७.

हे मेरी तुम

हे मेरी तुम !
यह समीर जो महामेरु से,
टकराता है
बादल बिजली और प्रलय से,
लड़ जाता है
बाड़वाग्नि से जल-थल-अम्बर,
दहकाता है
जन-सेना के विजय-केतु को,
फहराता है।

१४ नवम्बर, १९४७

प्रात का सूरज

शाम का सूरज नहीं है—प्रात का है,
चीर प्राची का कलेजा उठ रहा है।

रात का भीगा धरातल आँसुओं से,
चूम कर किरनें सुनहली हँस रहा है।

दीप जो जलता रहा था, मिट रहा था,
आज उसका ही उजाला बढ़ रहा है!

खेत में जो अन्न कच्चा ही खड़ा था,
आज कंचन सा मधुर वह पक रहा है।

२६ दिसम्बर, १६४७.

भोर होवे

रात लम्बी है—
अँधेरा चल रहा है!
भूमि-नभ का
दीप तारा बुझ रहा है!
आदमी भी
हाथ बाँधे सो रहा है!
स्वप्न आँखों में
तड़पता खो रहा है!
भोर होवे भोर होवे
हो रहा है!!

२६ दिसम्बर, १९४७

स्वर्ण सवेरा

रक्त हमारा चमका !
भू-नभ का, दोनों का—
माथा दम दम दमका !!

भोर हुआ, जग जागा !
दूर अँधेरा भागा !!
नदी-धार में,
थल कछार में,
कहाँ नहीं है—
रस जीवन का छलका !!

स्वत्व मिला, बल आया !
जन-जीवन मुसकाया !!
कर्म क्षेत्र में
ज्ञान क्षेत्र में
कहाँ नहीं है—
स्वर्ण-सवेरा झलका !!
रक्त हमारा चमका !!

२६ दिसम्बर, १९४७

विष-बीज

हम पराये प्राण ले कर जी रहे हैं।
रक्त की धारा बहा कर नाव अपनी खे रहे हैं ।।
राम और रहीम के घर तुच्छ मन से जा रहे हैं !
गीत मानव के हृदय के द्वेष पूरित गा रहे हैं।
काम राक्षस के हृदय के क्रूर बर्बर कर रहे हैं।
चाँद तारे और सूरज सब बुझाते जा रहे हैं ।।
राह में पथभ्रष्ट होकर कूल तज कर खो रहे हैं।
भूमि में विष-बीज घाती नाश के ही बो रहे हैं ।।

२६ दिसम्बर १९४७

चिड़ीमार

चिड़ीमार ने मारी
गोली।
हवा चीरती हत्या
झपटी।
मुक्त जीव ने खाया
गोता।
भेद गयी जीवन की
छाती।
बूंद-बूंद से टपका
लोहू।
गिरा पट्ट से मुरदा
पक्षी।
काँप गयी धरती की
गोदी।
पेट भरा मानव ने
अपना।

२७ दिसम्बर, १९४७

विष-बीज

हम पराये प्राण ले कर जी रहे
रक्त की धारा बहा कर नाव अपने
राम और रहीम के घर तुच्छ मन
गीत मानव के हृदय के द्वेष पूरि
काम राक्षस के हृदय के क्रूर बर्बर
चाँद तारे और सूरज सब बुझाते
राह में पथभ्रष्ट होकर कूल तज क
भूमि में बिष-बीज घाती नाश के हीं

काश्मीर

काश्मीर की धरती
डोंगर राजा राज्य हटाए,
जनता की सरकार बनाये,
शक्ति-सूर्य-सा हँसती !
काश्मीर की धरती आग उगलती लड़ती !!

फूलों की उल्लास धारियाँ
केसर की स्वर्णाभ क्यारियाँ,
छाती फाड़े दिखतीं !
काश्मीर की धरती क्षत विक्षत है लड़ती !!

चट्टानें गोली खाती हैं,
[illegible]ती क्षण-क्षण फट जाती है,
क्षण ही जुड़ती !
[illegible]ती जीती जागी लड़ती !!

दीपक और स्वप्न

यह दीपक की अमर वृत्ति है
सस्मित जलना
अंधकार के पद चिन्हों को
दीपित करना
किरनों की आलोक मूर्तियाँ
निर्मित करना
स्वप्नों को मानव के उर में
जीवित रखना।

२८ दिसम्बर, १६४७

काश्मीर

काश्मीर की धरती
डोंगर राजा राज्य हटाए,
जनता की सरकार बनाये,
शक्ति-सूर्य-सा हँसती !
काश्मीर की धरती आग उगलती लड़ती !!

फूलों की उल्लास धारियाँ
केसर की स्वर्णाभ क्यारियाँ,
छाती फाड़े दिखतीं !
काश्मीर की धरती क्षत विक्षत है लड़ती !!

चट्टानें गोली खाती हैं,
छाती क्षण-क्षण फट जाती है,
पर तत्क्षण ही जुड़तीं !
क़ाश्मीर की धरती जीती जगती लड़ती !!

दीपक और स्वप्न

यह दीपक की अमर वृत्ति है
सस्मित जलना
अंधकार के पद चिन्हों को
दीपित करना
किरनों की आलोक मूर्तियाँ
निर्मित करना
स्वप्नों को मानव के उर में
जीवित रखना।

२८ दिसम्बर, १९४७

काश्मीर

काश्मीर की धरती
डोगर राजा राज्य हटाए,
जनता की सरकार बनाये,
शक्ति-सूर्य-सा हँसती !
काश्मीर की धरती आग उगलती लड़ती !!

फूलों की उल्लास धारियाँ
केसर की स्वर्णाभ क्यारियाँ,
छाती फाडे दिखतीं !
काश्मीर की धरती क्षत विक्षत है लड़ती !!

चट्टानें गोली खाती है,
छाती क्षण-क्षण फट जाती है,
पर तत्क्षण ही जुड़तीं !
काश्मीर की धरती जीती जगती लड़ती !!

नर-नारी बन्दूक लिये हैं,
बच्चे भी बन्दूक लिये हैं,
पल्टन उमड़ी पड़ती !
काश्मीर की धरती जन प्रति जन से लड़ती !!

भागो ऐ हमलावर ! भागो,
सोओ दुष्टों कभी न जागो,
तड़ तड़ गोली चलती !
काश्मीर की धरती जय जय जय कर लड़ती !!

२८ दिसम्बर, १९४७

जोनी

(काश्मीर में लड़ती, एक दूध बेचने वाली लड़की का चित्र देख कर उसकी प्रशस्ति में)

जोनी !
तेरी बड़ी उमर हो
बड़ी उमर हो, बड़ी उमर हो !!

मौत न तुझको छूने पाये
तू जिन्दा रह कर मुसकाये
काश्मीर सब खुशी मनाये
केशर क्यारी स्वर्ण लुटाये
जोनी !
तेरी बड़ी उमर हो
बड़ी उमर हो, बड़ी उमर हो !!

तेरी हिम्मत से सब हारें
वैरी तुझको देख सिधारें

पर्वत घाटी तुझे पुकारें
तुझ पर शोभा सुषमा वारें
जोनी !
तेरी बड़ी उमर हो
बड़ी उमर हो, बड़ी उमर हो !!

हर झरना तेरे संग दौड़े
हर बच्चा तेरे संग दौड़े
हर नारी तेरे संग दौड़े
उसी ध्येय से नर भी दौड़े
जोनी !
तेरी बड़ी उमर हो
बड़ी उमर हो, बड़ी उमर हो !!

तेरे माथे को नभ चूमे
तेरे पाँवों को थल चूमे
तेरी वाणी घर घर गूँजे
आशा जीवन यौवन फूले
जोनी !
तेरी बड़ी उमर हो
बड़ी उमर हो, बड़ी उमर हो !!

२८ दिसम्बर, १९४७

महकती जिन्दगी

फूलदानों में महकती जिन्दगी है।

स्वर्ण मुद्रा के गृहों में,
रूप-छवि की प्रतनु परियाँ नाचती हैं।

स्वप्न के शृंगार-जीवन के विलासी,
ओठ में मुसकान लेकर,
वेणु-वादन की सुरा पी,
चाँदनी की काव्य-कलियाँ चूमते हैं।

नवल उत्पल सहस-दल का हृदय खोले,
आँख खोले, राग-रंजित उषा-उत्सव देखते हैं।

वासनाओं के दिगम्बर महासागर,
अवनि-अंगों से ललक कर मिल रहे हैं।

मृदुल कुच के कुमुद-दल पर,
विमल मौक्तिक-माल जगमग,
चपल जुगनू की लहर-सी सोहती है।

दीप की चन्दन-उजाली,
रजत-रवि के किरन-पथ-सी,
अमिट फैली,
मुस्कुराती मोहती है।

गीत, गंध, पराग, मधु, मद,
मदिर पुलकाकुल प्रणय को पूजते हैं,
और लज्जा से रँगी रक्ताभ द्युति को भेंटते है!
यह अमीरों की दशा है!!

किन्तु शोषित सर्वहारा,
अपहरण की यातना से व्यथित विह्वल
स्वत्व की अपनी लड़ाई
हिंस्र पशुओं—भेड़ियों से लड़ रहा है;
भूमि में अपने रुधिर से,
लाल टेसू के अंगारे बो रहा है;

क्रान्तिकारी औ लड़ाकू सभ्यता के नव क्षितिज पर,
लाल झंडा को उठाये चल रहा है;

धन-कुबेरों के किरायेदार खूनी,
सब तरफ से वार उस पर कर रहे हैं;

गिद्ध उसकी देह जिन्दा चोंथते हैं;
और उसकी हड्डियों का फास्फोरस खींचने को
चोंच के आघात पैने मारते हैं।

सर्वहारा तिलमिला कर
घूम कर फिर,
लौह के पंजे पसारे
मास-मज्जा हीन हड्डी की शिला-सा
दौड़ता है कड़कड़ा कर
और वज्राघात करता है, कुटिल अन्यायियों पर,
ध्वंस करता है किलेबन्दी सकल पैशाचिकों की
और थैलीशाह के राष्ट्रीय-आहुति-यज्ञ की खूनी पिपासा;
अग्रणी बन क्षुधा-पीड़ित वस्त्र-पीड़ित श्रमिक जन का,
साथ लेकर बुद्धिजीवी व्यक्तियों के विपुल दल को
क्रांति का भूचाल होकर
आग, बिजली के प्रलय से जीतता है, देश का वर वक्ष सुन्दर
और फिर प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कर अपाहिज,
सर्वहारा राज्य की स्थापना के,
कार्य करता है अवनि पर।

फूल खिलते हैं मनोहर
नहीं काँटे वेधते हैं
गीत मानव का हृदय गाता हुआ गुंजारता है
सर्वप्रिय संस्कृति धरा पर अवतरित हो
नाचती वो झूमती है।

२ अगस्त, १६४८

जो शिलाएँ तोड़ते हैं

जिन्दगी को
वह गढ़ेंगे जो शिलाएँ तोड़ते हैं,
जो भगीरथ नीर की निर्भय शिराएँ मोड़ते हैं।
यज्ञ की इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ !!

जिंदगी को
वह गढ़ेंगे जो खदानें खोदते हैं,
लौह के सोये असुर को कर्म-रथ में जोतते हैं।
यज्ञ की इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ !!

जिंदगी को
वह गढ़ेंगे जो प्रभंजन हाँकते हैं,
शूरवीरों के चरण से रक्त-रेखा आँकते हैं।
यज्ञ की इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ !!

जिंदगी को

वह गढ़ेंगे जो प्रलय को रोकते हैं,
रक्त से रंजित धरा पर शांति का पथ खोजते हैं।
यन को इस शक्ति-श्रम के

श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ !!

मैं नया इंसान हूँ इस यन में सहयोग दूंगा।
खूबसूरत जिंदगी की नौजवानी भोग लूंगा ॥

८ नवम्बर, १९४८